श्री शक्ति गीता – with Commentary in Hindi by the scholars of the भारतधर्म महामण्डल – A work belonging to Devi sect.

2/e, Benares, 2024 Vikrama era.

57/67

1196

15

Bill No. 5/07-08

144

2008-0604

ॐ तत्सत् ।

श्रीशक्तिगीता ।

भाषानुवादसहिता ।

श्री भारतधर्म्ममहामण्डलके शास्त्र-
प्रकाश विभागद्वारा प्रकाशित ।

काशी

द्वितीयावृत्ति

सम्वत् २०२४

प्रकाशक—
शास्त्र प्रकाश विभाग
श्री भारतधर्ममहामण्डल
जगतगंज वाराणसी।

प्राप्ति स्थान
शास्त्र प्रकाश विभाग
श्री भारतधर्ममहामण्डल
जगतगंज वाराणसी।

मुद्रक :
बलदेवदास
संसार प्रेस, संसार लिमिटेड,
काशीपुरा वाराणसी।

ओं तत्सत्।

श्रीशक्तिगीता।

प्रथम संस्करणका विज्ञापन।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल, प्रधान कार्य्यालय, काशीधामके शास्त्रप्रकाश विभाग-द्वारा अबतक अप्रकाशित तीन गीताओंका हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन होकर हिन्दीसाहित्यभण्डार और साथ ही साथ सनातनधर्म्मग्रन्थभण्डारकी श्रीवृद्धि हुई है। इससे पहले श्रीगुरुगीता सबप्रकारके गुरुभक्तोंकेलिये, श्री संन्यासगीता सबप्रकारके सन्न्यासी और साधुसम्प्रदायोंकेलिये और सौर्य्यसम्प्र-दायकेलिये सूर्यगीता हिन्दीअनुवादसहित प्रकाशित हो चुकी है। अब यह श्रीशक्तिगीता, जो अबतक अप्रकाशित थी, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित की गयी है।

सर्व्वव्यापक, सर्व्वजीवहितकारी और पृथिवीके सब धर्म्मोंके पितारूप सनातनधर्म्ममें निर्गुण और सगुण उपासनारूपसे प्रधान दो भेद हैं। यद्यपि लीलाविग्रह अर्थात् अवतार उपासना, ऋषिदेवतापितृउपासना और क्षुद्र तामसिक शक्तियोंकी उपासनारूपसे सनातन धर्म्ममें सब अधिकारके उपासक-वृन्दकेलिये और भी कई उपासनाशैलियोंका विस्तारित वर्णन पाया जाता है; परन्तु लीलाविग्रह उपासना अर्थात् अवतार उपासना तो पञ्चसगुण उपासना-के अन्तर्गत ही है। श्रीविष्णुभगवान्, श्रीसूर्य्यभगवान्, श्रीभगवतीदेवी, श्रीगणेश-भगवान् और श्रीसदाशिव भगवान् इन पंच सगुणउपास्य देवताओंमेंसे सबके ही अवतारोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है; क्योंकि सगुणउपासना-की पूर्णताका लीलामय स्वरूपकेविना उपासक अनुभव नहीं कर सकता। अस्तु लीलाविग्रहकी उपासना सगुण उपासनाकी पूर्णताकेलिये ही होती है तथा ऋषिदेवपितृउपासना और अन्य क्षुद्र उपासनाका अधिकार सकाम राज्य-से ही सम्बन्ध रखता है।

निर्गुण उपासनामें सर्व्वसाधारणका अधिकार हो ही नहीं सकता। निर्गुण उपासना अरूप, भावातीत, वाक्, मन और बुद्धिसे अगोचर आत्मस्वरूपकी उपासना है। निर्गुण उपासना केवल आत्मज्ञान-प्राप्त तत्त्वज्ञानी महापुरुषों तथा जीवन्मुक्त संन्यासियोंकेलिये ही उपयोगी समझी जा सकती है और केवल सगुण

उपासना ही सब श्रेणीके उत्तम उपासकवृन्दकेलिये हितकारी समझकर पूज्यपाद महर्षियोंने उसके सिद्धान्तोंका अधिक प्रचार शास्त्रोंमें किया है। सृष्टिके स्वाभाविक पञ्चतत्त्वोंकेअनुसार पञ्चविभागोंपर संयम करके पञ्चउपासक सम्प्रदायके भेदकी कल्पना करते हुए पूर्व्वाचार्योंने पञ्चसगुणउपासनाप्रणाली प्रचलित की है। विष्णुउपासककेलिये वैष्णवसम्प्रदायप्रणाली सूर्य्यउपासककेलिये सौर्य्यसम्प्रदायप्रणाली, शक्तिउपासककेलिये शाक्तसम्प्रदायप्रणाली, गणपति उपासककेलिये गाणपत्यसम्प्रदायप्रणाली और शिवउपासककेलिये शैवसम्प्रदायप्रणाली उन्होंने विस्तारित रूपसे नाना शास्त्रोंमें वर्णन की है। प्रत्येक उपासक सम्प्रदायके उपयोगी अनेक आर्यसंहितायें और अनेक तन्त्रग्रन्थअदि पाये जाते हैं, यहाँ तक कि, प्रत्येक सम्प्रदायके उपयोगी उपनिषद् भी प्राप्त होते हैं। उसी शैलीकेअनुसार प्रत्येक सम्प्रदायके उपासककेलिये अपने अपने सम्प्रदायके पंचाङ्ग हैं। अपने अपने सम्प्रदायके पंचाङ्ग ग्रन्थोंमेंसे अपने अपने सम्प्रदायका गीताग्रन्थ सबसे प्रधान माना गया है।

विष्णुसम्प्रदाय की श्रीविष्णुगीता, सूर्य्यसम्प्रदायकी श्रीसूर्य्यगीता, देवीसम्प्रदायकी श्रीशक्तिगीता, गणपति-सम्प्रदायकी श्रीधीशगीता और शिवसम्प्रदायकी श्रीशम्भुगीता-ये पांचों ग्रन्थ अति अपूर्व्व उपनिषद्रूपी हैं। इन पांचों ग्रन्थरत्नोंका प्रकाशन अबतक ठीक नहीं था। यद्दिच देवीगीता, शिवगीता और गणेशगीता नामसे कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए हैं पर वे असम्पूर्ण दशामें प्रकाशित हुए हैं। श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाश विभाग तथा अनुसन्धान विभागद्वारा ये पांचों ग्रन्थरत्न अपने सम्पूर्ण आकारमें प्राप्त हुए हैं। उन्हीं पांचोंमेंसे यह दूसरी गीता अब प्रकाशित हो रही है। और गीतायें इसीप्रकारसे क्रमशःप्रकाशित हुई हैं। ये पांचों गीतायें वेद-विज्ञान, सनातन धर्म्मके अपूर्व्व रहस्य, गंभीर अध्यात्मतत्त्व और पूज्यापाद महर्षियोंके सिद्धान्तोंसे परिपूर्ण हैं, इन पांचोंके पाठ करनेसे पाठक बहुत कुछ ज्ञान लाभ कर सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म तथा उसकी उपासनाका रहस्य, सगुण उपासनाका महत्त्व और विज्ञान, वेदके कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डका मर्म्म, सनातनधर्म्मके सब गभीर शिद्धान्तोंका निर्णय, अध्यात्मतत्त्व, अधिदैव तत्त्व, अधिभूत तत्त्व, यहाँ तक कि वेदका सार सब कुछ इन पञ्चगीताओंमें प्राप्त होता है। ज्ञानकाण्डका विघ्न जिसप्रकार अहंकार है, उपासनाकाण्डका विघ्न जिसप्रकार साम्प्रदायिक विरोध है, उसीप्रकार कर्म्मकांडका विघ्न दम्भ है। कर्मकांडी इनको पाठ करनेसे अपने दम्भको भूलकर भक्त बन जायेंगे,

उपासकगण अपने क्षुद्राशय और साम्प्रदायिक विरोधको भूलकर उदार और पराभक्तिके अधिकारी बन सकेंगे और तत्त्वज्ञानीकेलिये तो ये पांचों ग्रन्थ उपनिषदोंको साररूप हैं। गृहस्थोंकेलिये ये पञ्चगीतायें परममङ्गलकर और सन्न्यासियोंकेलिये अध्यात्मपथप्रदर्शक हैं।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके शास्त्र प्रकाश विभागके अन्य ग्रन्थोंकेअनुसार इस ग्रन्थरत्नकास्वत्वाधिकार दीन-दरिद्रोंके भरण-पोषणार्थ श्रीविश्वनाथअन्नपूर्णादानभंडारको दिया गया है। इस ग्रन्थके इस संस्करणके छापनेका व्यय खैरीगढ़राज्येश्वरी श्रीमती भारतधर्म्मलक्ष्मी महारानी सुरथकुमारी देवी के. एच. ओ. बी. ई. महोदयाने प्रदान किया है। श्रीभगवतीदेवी उनको नीरोग और दीर्घायु करें। विज्ञापनमिति।

श्रीकाशीधाम, अक्षयतृतीया,
सम्वत् १९७६ विक्रमीय। } विवेकानन्द।

श्री शक्तिगीताके दूसरे संस्करणकी भूमिका

भिन्न-भिन्न प्रकृति, प्रवृत्ति रुचि एवं अधिकारके उपासकोंकी उपसनामें सहायता देनेके उद्देश्यसे दिव्यदृष्टि महर्षियोंने निर्गुण ब्रह्मके पाँच सगुण रूपोंकी उपासनाका निर्देश किया है। वे शक्ति शिव, विष्णु, सूर्य्य एवं गणपति हैं। अनादि कालसे इन पाँच रूपोंमें सगुण ब्रह्मकी उपासना होती आ रही है। भगवान् रामकृष्णकी उपासना लीला विग्रहकी उपासना इसीके अन्तर्गत है। अपनी रुचिकेअनुसार इष्टदेवके रूपका ध्यान करनेसे चित्त सहज एवं अनायास ही समाहित अथवा एकत्र हो जाता है। पातञ्जल योग दर्शनका सूत्र "अभिमतं ध्यानाद् वा" इसी सिद्धान्तका पोषक है। इसका तात्पर्य यह है कि, अभिमत ध्यानकेद्वारा चित्तकी एकाग्रता प्राप्त होती है। यह स्वाभाविक भी है। जिस रूपपर मन स्वतः मोहित होता है, उसमें ध्यानसे सहज ही एकाग्र हो जाता है। मनुष्यके शरीरमें पाँच तत्त्व हैं, परन्तु इनमें किसी एककी प्रधानता प्रत्येक मनुष्यदेहमें हुआ करती है। पृथ्वी, अग्नि, जल-वायु एवं आकाश, इन पाँच तत्त्वोंके अधिदैव ये पाँचों सगुण ब्रह्म है। इन पाचों-में जिस उपासकको जिनकी उपासनामें अभिरुचि हो, जिनका रूप मनको प्रिय लगता हो, उसको उनकी उपासना करनेमें शीघ्र सफलता

प्राप्त होती है। जिस देवताको अपना इष्टदेव बनाया जाता है, उन्हींके रूपका ध्यान करना, उन्हींके मन्त्रका जप करना, उन्हींकी स्तुतिका पाठ करना, ये सब मन्त्रयोगकी उपासनाके प्रधान साधन हैं। इसकारण पञ्च सगुण उपासनाकी पाँच गीतायें होनी चाहिये थीं, परन्तु वे पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं थी। इस कमीको अनुभव करके श्रीभारतधर्म महामण्डलके प्रतिष्ठाता परमाराध्य भगवत् पूज्यपाद देशिकेन्द्र-शिरोमणि योगिराट् महर्षि श्री ११०८ स्वामीज्ञानानन्द जी महाराज प्रभुने अपनी योगसमाधिसे इन पञ्च सगुणोपासनाकी इन पाँचों गीताओंको प्राप्त किया था, और इनका प्रकाशन श्रीभारतधर्म महामण्डलके शास्त्र प्रकाशन विभागद्वारा हुआ था। इनमें शक्तिगीताका प्रथम संस्करण बहुत पहले समाप्त हो गया था, परन्तु प्रेसकी असुविधा तथा अर्थिक कठिनाईसे इसका दूसरा संस्करण अबतक प्रकाशित नहीं हो सका था। महाशक्ति श्री जगन्माताकी असीम अनुकम्पासे श्री शक्तिगीताका यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। आशा है, श्रीजगदम्बा रूपिणी महाशक्तिके उपासकगण इस ग्रन्थरत्नकेद्वारा यथेष्ट लाभान्वित होंगे। इस ग्रंथमें अनेक आध्यात्मिक गुण रहस्योंका उद्घाटन भी हुआ है, इस कारण उपासनाके साथ-साथ इससे अध्यात्मिक ज्ञानकी भी अभिवृद्धि होगी, इसमें सन्देह नहीं। भगवत्पूज्यपाद महाराजश्रीके विमल विशाल मानस-सरोवरमें भक्ति, ज्ञान और कर्मकी त्रिवेणी सदा प्रवाहित हुआ करती थी। अतः उनकेद्वारा प्रकाशित सभी ग्रन्थोंमें ज्ञान भक्ति एवं निष्काम कर्मके विज्ञान तथा स्वरूप कहीं संक्षिप्त तो कहीं विस्तृत रूपसे अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही ब्रह्मनिष्ठासे उनमें समता स्थिर हो गयी थीं, भेददृष्टि नष्ट हो गयी थी। अतः इनकी समदृष्टिमें इन पाचों उपास्यदेवों तथा इन पाचोंके उपासना सम्प्रदायोंमें भी कोई भेद भाव उनको प्रतीत नहीं होना स्वाभाविक है। पञ्चोपासनाकी पाचों गीताओंके अध्ययनसे इन पाचों देवोंमें समताकी बुद्धिकी भी शिक्षा प्राप्त होती है और उपासना सम्प्रदायोंमें भेद-बुद्धि न होकर समता-बुद्धि प्राप्त होती है, जो उपासकके-लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

वासन्ती नवरात्र सम्बत् २०२४

श्री गुरुदेवपादपद्माश्रिता—
विद्यादेवी

श्रीजगन्मात्रे नमः।

श्रीशक्तिगीता

की

विषयानुक्रमणिका।

प्रथम अध्याय

चतुर्थ अध्याय

षष्ठ अध्याय।

सप्तम अध्याय।

❀ श्रीजगन्मात्रे नमः ❀

श्रीशक्तिगीता ।

भाषानुवादसहिता ।

शक्तिशक्तिमतोरभेदयोगवर्णनम् ।

सूत उवाच ॥ १ ॥

गुरुदेव ! त्वया प्रोक्तं पुराणान्यखिलानि यत् ।
विद्यन्ते स्मृतयो नूनं श्रुतितत्त्वप्रकाशिकाः ॥ २ ॥
नैकोपनिषदश्चाऽपि पुराणनिचये ननु ।
गीतानाम्ना च विख्यातास्सन्ति तत्राऽपि भूरिशः ॥ ३ ॥

सूतजी बोले ॥ १ ॥

हे गुरो ! आपने कहा था कि, पुराण सब वेदके तात्पर्य्यप्रकाशक स्मृतियाँ हैं ॥ २ ॥ और पुराणोंमें गीता नामसे विख्यात अनेक उपनिषद्

आदिष्टश्चाऽपि मे देव ! विबुधानां च सन्निधौ ।
प्रादुरासीन्महादेवी स्वयं ब्रह्ममयी पुरा ॥ ४ ॥
रहस्यं शक्तिरूपस्य शक्तिमद्ब्रह्मणो बहु ।
श्रावयित्वा महादेवी देवान् साध्वकृतार्थयत् ॥ ५ ॥
त्रिलोकपावनीं दिव्यां शक्तिगीतां सुदुर्लभाम् ।
अतो मां श्रावयेदानीं ज्ञानानन्ददयानिधे ! ॥ ६ ॥

व्यास उवाच ॥ ७ ॥

त्वद्भक्त्या सूत ! सद्बुद्धे ! प्रसन्नोऽस्मि न संशयः ।
विशेषतश्च ते मत्या विश्वकल्याणसक्तया ॥ ८ ॥
अतः सूत ! समीहेऽहं तुभ्यं श्रावयितुं शनैः ।
पुराणशास्त्रं परमं वेदार्थप्रतिपादकम् ॥ ९ ॥
यतस्त्वमेव तच्छास्त्रं नृणामभ्युदयाय वै ।
निःश्रेयसकृते चैव लोके ख्यापयितुं प्रभुः ॥ १० ॥

भरे हुए हैं ॥ ३ ॥ हे देव ! आपने यह भी आज्ञा की थी कि, पुराकालमें ब्रह्ममयी महादेवी देवताओंके सन्मुख प्रकट हुई थीं ॥ ४ ॥ और उन्होंने शक्तिमान् ब्रह्मके शक्तिमय स्वरूपके अनेक रहस्य उनको भलीभाँति सुनाकर कृतकृत्य किया था ॥ ५ ॥ अतः कृपा करके हे ज्ञान, आनन्द और दयाके निधि गुरुदेव ! त्रिलोकपवित्रकर, सुदिव्य और दुर्लभ शक्तिगीता मुझे सुनाइये ॥ ६ ॥

व्यासजी बोले ॥ ७ ॥

हे सुबुद्धि सूत ! मैं तुम्हारी भक्तिसे और विशेषतः तुम्हारी जगत्कल्याणमें लगी हुई बुद्धिसे प्रसन्न हूँ। इसलिये शनैः शनैः वेदार्थप्रतिपादक पुराण शास्त्र तुम्हें सुनानेकी मैं इच्छा रखता हूँ ॥ ८—९ ॥ क्योंकि तुम उन शास्त्रोंको मनुष्योंके अभ्युदय और निःश्रेयसकेलिये जगत्में प्रकट करनेमें समर्थ हो ॥ १० ॥ इस समय शक्तिगीता मैं तुम्हें सुनाता हूँः—सुनो, क्योंकि तुम्हारा चित्तरूपी भ्रमर

श्रावये शक्तिगीतां तामिदानीं श्रूयतां खलु।
महादेवीपदाम्भोजचञ्चरीकहृदा त्वया ॥ ११ ॥
गीतेयं सारभूताऽस्ति सर्व्वोपनिषदां हिता।
निष्कर्षः सर्ववेदानां जननी ज्ञानवर्च्चसाम् ॥ १२ ॥
पुरा देवासुरे युद्धे साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपिणीम्।
जगदम्बां महादेवीं समाराध्य दिवौकसः ॥ १३ ॥
विविधैर्विधिभिः सूत! विजयं लेभिरे यदा।
अम्बायज्ञमनुष्ठाय ततस्ते विधिपूर्वकम् ॥ १४ ॥
दिदृक्षाञ्चक्रिरे देवीं विधूतकल्मषास्तदा।
तस्मिन् काले तु देवर्षेर्नारदस्योपदेशतः ॥ १५ ॥
विविदुर्विबुधाः सर्वे यन्मणिद्वीपमुत्तमम्।
तैर्यद्यप्यम्बिकालोकं समासाद्य महेश्वरी ॥ १६ ॥
द्रष्टुं शक्या तथाऽप्येते सर्व्वे गन्तुं न शक्नुयुः।
तत्र देवाः कियन्तस्तु कियन्मात्रर्षयस्तथा ॥ १७ ॥

महादेवीके पदरूपी कमलमें सदा लीन रहता है ॥ ११ ॥ यह सब उपनिषदोंकी साररूपा, वेदोंका निष्कर्ष और ज्ञानज्योतिकी जननी है ॥ १२ ॥ पुराकालमें जब साक्षात् ब्रह्मरूपिणी जगन्मातृरूपधारिणी महादेवीकी अनेकप्रकारसे उपासना करके देवताओंने देवासुर संग्राममें जय प्राप्त किया था और इस जयलाभके अनन्तर विधिपूर्वक अम्बायज्ञका अनुष्ठान कर विधूतकलमष होकर महादेवीके दर्शन लाभ करनेकी उन्होंने इच्छा की थी, उस समय देवर्षि नारदके उपदेश-द्वारा उनको यह विदित हुआ था कि, यद्यपि देवीलोकरूपी मणिद्वीपमें जाकर जगन्माताका दर्शन प्राप्त हो सकता है परन्तु वहाँ सब देवता पहुँच नहीं सकते, केवल कुछ देवता और कुछ ऋषिगण ही पहुँचनेकी सामर्थ्य रखते हैं, सो भी महादेवीकी कृपा सापेक्ष है ॥ १३–१८ ॥

क्षमन्ते गन्तुमेवाऽहो सूत ! तत्राऽप्यपेक्ष्यते ।
महादेव्या दयादृष्टिस्तां विना नैतुमीशते ॥ १८ ॥
एवं सुविदिते तात ! भगवान् देवनायकः ।
विष्णुरूचे तदानीन्तु देवान् सम्बोध्य तानिदम् ॥ १९ ॥
प्रभवो न यदा गन्तुं निखिलास्तत्र निर्ज्जराः ।
शक्नुवन्त्यपि ये गन्तुं देवीलोकं हि तेऽपि च ॥ २० ॥
क्षमन्ते स्वेच्छया नैतुं जगदम्बादयामृते ।
यदा तु जगदम्बायाः सर्व्वथाऽपेक्षिता कृपा ॥ २१ ॥
सर्व्वैरागम्यतां तर्हि ब्रह्मचक्रमनुत्तमम् ।
अस्माभिर्म्मिलितैर्देवैरिहाऽनुष्ठीयतां हितम् ॥ २२ ॥
वयश्चेद् ब्रह्मचक्रेऽस्मिन् कृतकृत्या भवेम ह ।
अमुना ब्रह्मचक्रेण सर्व्वोत्कृष्टतमेन च ॥ २३ ॥
सर्व्वेऽभिन्नान्तरात्मानः स्वीयाभिः कर्म्मशक्तिभिः ।
स्वज्ञानेन स्वभक्त्या च जगन्मातुः पदाम्बुजे ॥ २४ ॥
शक्नुयाम वयं लब्धुमेकाग्रत्वं परं यदि ।
तदा मे दृढविश्वासो वर्त्तते विबुधर्षभाः ॥ २५ ॥

ऐसा विदित होनेपर देवनायक भगवान् विष्णुने सब देवताओंको समझाकर कहा ॥ १९ ॥ जब सब देवतागण देवीलोकमें नहीं पहुँच सकते और जिनकी वहाँ पहुँचनेकी सामर्थ्य भी है, वे भी अपनी इच्छासे नहीं पहुँच सकते; सुतरां जब जगन्माताकी कृपा ही सबप्रकारसे अपेक्षित है, तो आओ हम सब मिलकर हितकारी और सर्व्वोत्तम ब्रह्मचक्रका अनुष्ठान करें ॥ २०-२२ ॥ यदि ब्रह्मचक्रमें हमलोग सफलकाम होंगे और यदि इस सर्वोत्तम चक्रद्वारा हमलोग सब एक अन्तःकरण होकर अपनी क्रियाशक्ति, भक्ति और ज्ञानसे जगन्माताके चरणोंमें एकाग्रता प्राप्त कर सकेंगे, तो मेरा स्थिर विश्वास है

यन्नूनं सा महादेवी स्वयमाविर्भविष्यति।
स्वदर्शनोपदेशाभ्यामत्रैवाऽनुग्रहीष्यति ॥ २६ ॥
एतच्छ्रुत्वा वचो विष्णोस्तदानीं निखिलाः सुराः।
विष्णुं चक्रेश्वरं कृत्वा भगवन्तं रमापतिम् ॥ २७ ॥
पुण्येन ब्रह्मचक्रेण सर्वश्रेष्ठत्वसंजुषा।
उपास्तौ ते महादेव्याः प्रवृत्ताः सुसमाहिताः ॥ २८ ॥
ततो विहारिणी नित्यं भक्तमानसमन्दिरे।
आद्या सैव महादेवी करुणैकनिकेतनम् ॥ २९ ॥
देवैरनुष्ठिते तस्मिन् ब्रह्मचक्रे सुदुर्लभे।
देवाक्षिगोचरीभूय दिव्यं तेजस्वितामयम् ॥ ३० ॥
सर्वसौन्दर्य्यशोभाढ्यं परमाद्भुतदर्शनम्।
बिभ्राणाऽलौकिकं रूपमाविर्भावमवाप ह ॥ ३१ ॥
दिवौकसोऽखिला अमी पुरस्तदा व्यलोकय-
न्नखण्डमण्डलाकृतिं विभिद्य वै तमस्ततितम्।
अखण्डमण्डलात्मकं सुदिव्यमेकमद्भुतं
महः किमप्यहो परं प्रकाशते स्म दुःसहम् ॥ ३२ ॥

कि, महादेवी अवश्य यहां ही स्वयं आविर्भूत होकर दर्शन और उपदेश-द्वारा हमलोगोंको कृतकृत्य करेंगी ॥ २३–२६ ॥ इतना भगवान् विष्णुका वचन सुनकर उस समय सब देवतागण भगवान् विष्णुको चक्रेश्वर बनाकर ब्रह्मचक्रकेद्वारा महादेवीकी उपासनामें सावधान होकर प्रवृत्त हुए ॥ २७–२८ ॥ भक्तमनोमन्दिरविहारिणी वही करुणामयी आद्या महादेवी सब देवताओंकेद्वारा अनुष्ठित ब्रह्मचक्रमें देवताओंके दर्शनेन्द्रियगोचर होकर दिव्यतेजोमय और सब सौन्दर्य्योंसे शोभित अद्भुत रूपमें प्रकट हुईं ॥ २९–३१ ॥ उस समय इन सब देवताओंने देखा कि, अखण्डमण्डलाकार अन्धकारराशिको भेदन करके एक

अनन्तकोटिसूर्य्यतेज ओघमोघताकरं
विभासते स्म तन्महः समुज्ज्वलं मनोहरम् ।
महस्ततोऽन्तरा गलद्धिरण्यपुञ्जसन्निभा
समाविरास्त षोडशी समस्तविश्वमोहिनी ॥ ३३ ॥
अपूर्वमूर्त्तिरम्बिका ऽबलास्वरूपधारिणी
बभौ समस्तविश्वनव्यभास्वरप्रभाकरा ।
सुदिव्यवस्त्रभूषणैर्विभूषिता चतुर्भुजैः
सुपाशमङ्कुशं तथाऽभयं वरञ्च विभ्रती ॥ ३४ ॥
असौ जगद्भवस्थितिप्रणाशकारिणीश्वरी
शिवात्मनः परापरस्य नाभिपद्ममास्थिता ।
शिवोऽपि दिव्यमञ्चमत्त्यधिस्वपंस्त्रिदेवयुक्-
पितृव्रजर्षिनिर्ज्जरा यदीयपादरूपिणः ॥ ३५ ॥
गभीरमप्यहोऽम्बिकामुखं सुचारुदर्शनं
जगद्विमोहकारकं स्वमन्दहास्यशोभितम् ।

सुदिव्य, अद्भुत, दुःसह और अखण्डमण्डलाकार ज्योति सामने प्रकाशित हुई ॥ ३२ ॥ वह ज्योति अनन्त कोटि सूर्य्योंकी तेजोराशिको भी पराभूत करनेवाली, समुज्ज्वल, मनोहर और शोभायमान थी । उस ज्योतिके बीचसे एक गलितकाञ्चनके सदृश और जगत्‌को मुग्ध करनेवाली षोडशी स्त्रीमूर्त्ति प्रकट हुई ॥ ३३ ॥ जो स्त्रीरूप धारण करनेवाली अपूर्व्वमूर्त्ति देवी संसारकी नवीन देदीप्यमान सब शोभाओंकी खनिरूपसे विराज रही हैं, जो दिव्य वस्त्र और अलङ्कारोंसे भूषित हैं, जो चार हाथोंमें पाश अङ्कुश अभय और वरको धारण की हुई जगत्‌की उत्पत्ति स्थिति लय करनेवाली जगदीश्वरी शिव रूपधारी परमब्रह्मके नाभिकमल पर आसीना है, शिव दिव्य मञ्चपर सोये हुए हैं, जिस मञ्चके ब्रह्मा, शिव और विष्णुके सहित अनेक पितृ ऋषि और देवता आधारस्तम्भरूप हैं ॥ ३४-३५ ॥ देवीका मुख सुचारुदर्शन

अवाचि सत्यपि स्वतस्तदाननादुदेति च
जगद्विमोहसाधकः स ओंध्वनिर्निरन्तरम् ॥ ३६ ॥

समस्ततत्त्वतो ध्रुवं बहिर्गताऽप्यसौ शिवा
जगत्स्वदिव्यशक्तिभिश्च वेविषत्यथाऽखिलम्।
ददाति विश्वशङ्करं परं निरन्तरं मुहुः
प्रसादमात्मनो जगन्निवासिजीवजातये ॥ ३७ ॥

सदात्मिका चिदात्मिका रसात्मिकाऽद्वयाऽप्यसौ
प्रपद्य सच्चिदात्मकं हि भावमात्मनैव तु।
प्रपञ्चरूपधारिणी महेश्वरी द्वयात्मिका
रसात्मकस्वसत्तया समस्तविश्वमाश्नुत ॥ ३८ ॥

देवीं ब्रह्ममयीं समीक्ष्य पुरतस्त्वेवंविधां निर्ज्जरा-
निष्पन्दा अगिरोऽभवन्निव कियन्मूढाः क्षणं संस्थिताः।
पश्चान्मोहतमोविमुक्त-मतयश्चैतन्यपूर्णाशयाः
शान्ता देवगणाः कृताञ्जलिपुटा देवीं परां तुष्टुवुः ॥ ३६ ॥

और गम्भीर होनेपर भी जगन्मुग्धकर मन्द हास्यसे सुशोभित है, निर्वाक् होनेपर भी उनके मुखसे जगतको मुग्ध करनेवाली ओंकारध्वनि स्वतः ही निकल रही है ॥ ३६ ॥ वे सर्व्वतत्त्वातीत होनेपर भी अपनी दैवी शक्तिसे जगत्‌में परिव्याप्त होकर संसारके कल्याणकारी उत्कृष्ट अपने प्रसादको जगन्निवासी जीवसमूहको निरन्तर वारंवार प्रदान कर रही हैं। ॥ ३७ ॥ वे अद्वैत सच्चिदानन्दमयी होनेपर भी सत् और चित् भावके आश्रयसे द्वैतरूप धारण करती हुई आनन्द भावसे जगत्‌को परिव्याप्त किये हुई हैं ॥ ३८ ॥ देवतागण इस रूपमें ब्रह्ममयी देवीका दर्शन करके थोड़ी देरतक निस्पन्द और निर्वाक् हो विमोहित हो रहे, तत्पश्चात् मोहमुक्त होकर पूर्ण चेतनताको प्राप्त होते हुए कृताञ्जलि हो स्तुति करने लगे ॥ ३९ ॥

देवा ऊचुः ॥ ४० ॥

देवि! प्रपन्नार्त्तिहरे! शिवे! त्वं
वाणीमनोबुद्धिभि रप्रमेया।
यतोऽस्यतो नैव हि कश्चिदीशः
स्तोतुं स्वशब्दैर्भवतीं कदाचित् ॥ ४१ ॥

परं मनोवेगविमोहिता वयं
भावं भवत्या अपि वाङ्मनोधियाम्।
अगोचरं द्योतयितुं समुद्यताः
क्षमस्व नो दोषममुं दयानिधे! ॥ ४२ ॥

अत्र क्षमाप्तावपि कारणं ते
महत्यपाराऽस्ति कृपैव मातः!।
ब्रह्मस्वरूपे! जगदम्बिकेऽलं
दयामयीं त्वां सततं नमामः ॥ ४३ ॥

परात्परा त्वं परतत्त्वरूपिणी
स्वतीत्य तत्त्वान्यखिलानि राजसे।

देवतागण बोले ॥ ४० ॥

हे महादेवी! आप वाणी मन और बुद्धिके अगोचर हैं। इस कारण इस संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो शब्दद्वारा आपकी स्तुति कर सकता हो ॥ ४१ ॥ परन्तु हम मनके आवेगसे आपके मन वचन और बुद्धिसे अगोचर भावको शब्दोंकेद्वारा प्रकट करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, हे दयानिधे! इस अपराधको आप क्षमा करें ॥ ४२ ॥ इस क्षमाप्राप्तिमें आपकी महती अपार करुणा ही कारण है। हे ब्रह्ममयी जगदम्बिके! आप दयामयिको प्रणाम है ॥ ४३ ॥ आप तत्त्वातीत परमतत्त्वरूपिणी हैं, आपही पुनः एक ओरसे पुरुष और दूसरी

सच्चित्त्वसाहाय्यत आत्मना पुन-
र्दाम्पत्यरूपं युगलञ्च बिभ्रती ॥ ४४ ॥

तनोषि शृङ्गारमयीं समन्ता-
ल्लीलाललामान्वितसृष्टिमेताम्।
स्वानन्दसन्दोहभरप्रकाशा-
मनाद्यनन्तां जगदम्बिकेऽलम् ॥ ४५ ॥

लीलोदयास्ते भवतो भवत्या-
अक्षीङ्गितैः केवलमेव मातः!।
नानाविधस्यामितसङ्ख्यकस्य,
ब्रह्माण्डसङ्घस्य च देवि! मन्ये ॥ ४६ ॥

सर्गस्थितिप्रत्यवहारकार्य्यं
भवद्विलासस्य तरङ्गमात्रम्।
कर्त्तुं क्षणेनाखिलमस्यलं त्वं
नमोऽस्त्वतस्तेऽखिलशक्तिरूपे! ॥ ४७ ॥

त्वं निर्गुणाकारविवर्जिताऽपि
त्वं भावराज्याच्च बहिर्गताऽपि।

ओरसे स्त्री रूप धारण करके अपने चित् और सत् भावकी सहायतासे युगल दाम्पत्यरूप धारण करती हुई हे जगदम्बिके! अपने परमानन्दकी प्रकाशक शृङ्गार—लीलामयी अनाद्यनन्त सृष्टिलीलाका प्रवाह प्रवाहित करती हैं ॥ ४४-४५ ॥ लीलाका उदय और अस्त आपके नेत्रके इङ्गित मात्रसे हुआ करता है, एक मुहूर्त्तमें अनन्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि स्थिति और प्रलय कर देना आपके विलासका एक तरङ्गमात्र है, एकही क्षणमें सब कुछ कर सकती हो। इसलिये हे सर्व्वशक्तिमयी! आपको प्रणाम है ॥ ४६-४७ ॥ आप आकाररहित, भावातीत, गुणातीत, अखण्ड,

सर्व्वेन्द्रियागोचरतां गताऽपि
त्वेका ह्यखण्डा विभुरद्वयाऽपि ॥ ४८ ॥

स्वभक्त- कल्याणविवर्द्धनाय
धृत्वा स्वरूपं सगुणं हि तेभ्यः ।
निःश्रेयसं यच्छसि भावगम्या
त्रिभावरूपे ! भवतीं नमामः ॥ ४९ ॥

नास्त्यम्ब ! सीमा तव सत्कृपायाः
शक्ता न ये भक्तगणास्त्वदीयाः ।
तत्त्वप्रबोधस्य प्रपूर्त्यभावाद्-
द्रष्टुं हि ते भावमयस्वरूपम् ॥ ५० ॥

स्वाभाविकैरेव कृपाकटाक्षैः
समीहमाना ह्यनुकम्पितुं तान् ।
गुणाश्रयाद्यच्छसि दर्शनं स्वं
मुक्तिश्च तेभ्योऽभ्युदयं ददासि ॥ ५१ ॥

अद्वितीय, विभु और सब इन्द्रियोंसे अग्राह्य होनेपर भी अपने भक्तोंके कल्याणके अर्थ ही सगुणरूप धारण करके भावगम्य होकर उनको निःश्रेयस प्रदान करती हैं, हे त्रिभावरूपिणी ! आपको प्रणाम है ॥ ४८-४९ ॥ आपकी कृपाका पार नहीं है, आपका जो भक्त तत्त्वज्ञानकी पूर्णताके अभावसे आपके भावमय रूपको दर्शन करनेमें असमर्थ है परन्तु आप अपनी स्वाभाविक करुणासे उसको कृतकृत्य करना चाहती हैं, उस अपने कृपापात्र भक्तको आप अपने गुणोंके आश्रयसे दर्शन देकर अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करती हैं, हे देवि ! आपके तत्त्वको हम देवतागण तथा असुर कुछ भी नहीं समझ सकते, तो मनुष्योंका क्या कहना है ? हे परात्परे ! हे दयाम्बुराशे ! हे त्रिगुणमयी ! आपको

ज्ञातुं न शक्तास्तव देवि! तत्त्वं
वयं न दैत्या अपि मानवाः के।
परात्परे! त्वाञ्च दयाम्बुराशे!
वयं नमामस्त्रिगुणस्वरूपे! ॥ ५२ ॥
किं वर्णनं तेऽस्ति कृपाम्बुराशे-
र्येऽज्ञानपाशैर्जडिता विमुग्धाः।
मातर्महत्त्वं परमाद्भुतं ते
किमप्यहो नैव विदन्ति भक्ताः ॥ ५३ ॥
अनन्यभक्त्यैव तु केवलं हि
भृङ्गायमाणास्तव पादपद्मे।
विच्योतयस्यम्ब! न तानपि त्वं
स्वदर्शनान्मोक्षखनेः कदापि ॥ ५४ ॥
श्रीविष्णुगौरी- शिवधीशसूर्य्य-
रूपासु पञ्चात्मकदेवतासु।
यथारुचि त्वं प्रकटत्वमेत्य
स्थूलासु तान्वै कुरुषे कृतार्थान् ॥ ५५ ॥
दैवेषु राज्येषु यदा कदाचिद्-
घोरेण देवासुरसङ्गरेण।

प्रणाम है ॥ ५०-५२ ॥ हे जगन्मातः! आपकी कृपाका कहाँतक वर्णन किया जाय, जो आपका अज्ञानपाशसे विजडित विमूढ़ अज्ञ भक्त आपके महत्त्वको कुछ भी नहीं समझता है परन्तु आपके चरण-कमलोंमें अनन्यभक्तिसे भ्रमर जैसा प्रेम रखता है, उसको भी आप मोक्षप्रद अपने दर्शन देनेसे विमुख नहीं रखतीं और विष्णु सूर्य्य गौरी धीश और शम्भुरूपी पञ्चमूर्त्तियोंमेंसे जैसी उसकी रुचि हो, उसी स्थूलमूर्तिमें प्रकट होकर उसको कृतकृत्य करती हैं ॥ ५३-५५ ॥ जब कभी घोर देवासुर संग्रामद्वारा दैवीराज्यमें धर्मविप्लव उपस्थित होता है, तब आप जगत्‌के कल्याणकेलिये हम

उत्तिष्ठते धार्म्मिकविप्लवौघो-
दयामयि ! त्वञ्च तदैव नूनम् ॥ ५६ ॥
मातर्जगन्मङ्गलमाशु कर्तुं-
माकृष्य तेजांस्यमलानि नोऽलम् ।
तैरेव सन्दीपितदिक्समूहैः
स्थूलं स्वरूपं विमलं दधाना ॥ ५७ ॥
हत्वाऽसुरांस्तान् कुरुषे व्यवस्थां
दैवाधिराज्यस्य विशालसीम्नः ।
एवं कदाचित्किल मर्त्यलोके
धर्म्मस्य जाते बहु विप्लवे हि ॥ ५८ ॥
विभिन्नजीवेष्ववतीर्य्य मात-
र्हठादसाधूनखिलान्निहत्य ।
साधूनवन्ती पुनरेव धर्म्म-
राज्यं सुसंस्थापयसे तदा त्वम् ॥ ५९ ॥
देशो यदा ह्रासमुपैति तं त्वं
नेतृस्वरूपे ह्यवतीर्य्य पासि ।
विष्ण्वादिपञ्चात्मकदेवरूपे !
वयं नमामो रणचण्डिके ! त्वाम् ॥ ६० ॥

सबोंके निर्मल तेजको आकर्षण करके दिशाओंको दीपित करनेवाले उस तेजसे अपना स्थूलरूप धारण करती हुई असुरोंका निधन करके दैवीराज्यकी सुव्यवस्था करती हैं। उसीप्रकार जब कभी मृत्युलोकमें धर्मविप्लव उपस्थित होता है, तो आप विभिन्न जीव शरीरमें अवतीर्ण होकर असाधुओंका विनाश और साधुओंको सुख प्रदानद्वारा धर्मका पुनः संस्थापन करती हैं। उसीप्रकार जब देशकी अवनति होने लगती है, तब नेतारूपमें अवतार लेकर उसकी रक्षा करती हैं,

त्वं सच्चिदानन्दमये स्वकीये
ब्रह्मस्वरूपे निजविज्ञभक्तान् ।
तथेशरूपे च विधाप्य मात-
रुपासकान् दर्शनमात्मभक्तान् ॥ ६१ ॥

निष्कामयज्ञावलिनिष्ठसाधकान्
विराट्स्वरूपे च विधाप्य दर्शनम् ।
श्रुतेर्महावाक्यमिदं मनोहरं
करोष्यहो "तत्त्वमसीति" सार्थकम् ॥ ६२ ॥

मन्त्रावलीनां दृढ़सेतुभूते !
सृष्ट्यादिजाते ! प्रभवे ! श्रुतीनाम् ।
अनाद्यनन्तेऽखिलगे ! प्रणम्ये !
नमो भवत्यै प्रणवस्वरूपे ! ॥ ६३ ॥

ज्ञानस्य साम्राज्यमृषिप्रकाण्डै-
रस्माभिरम्बाखिलकर्म्मराज्यम् ।
स्थूलं स्वराज्यं पितृभिश्च नूनं
दत्त्वाथ संरक्षयसे स्वशक्तिम् ॥ ६४ ॥

हे पञ्चदेवमयी ! हे रणचण्डिके ! आपको प्रणाम है ॥ ५०–६० ॥ आप अपने ज्ञानी भक्तोंको सच्चिदानन्दमय ब्रह्मरूपमें दर्शन देकर, उपासक भक्तोंको ईश्वरीरूपसे दर्शन देकर और निष्काम यज्ञनिष्ठ भक्तोंको विराट् मूर्त्तिमें दर्शन देकर 'तत्त्वमसि' महावाक्यकी चरितार्थता करती हैं, हे मन्त्रोंके सेतु ! हे सृष्ट्यादिजाते ! हे श्रुतिप्रभवे ! हे सर्वपूज्ये ! हे प्रणवरूपिणी ! आपको प्रणाम हैं ॥ ६१–६३ ॥ आपही अपनी शक्ति प्रदान करके ऋषियोंकेद्वारा ज्ञानराज्यका संरक्षण, हमलोगोंके द्वारा कर्म्मराज्यका संरक्षण और पितरोंकेद्वारा स्थूलराज्यका

अव्यक्तरूपेऽखिलशक्तिशोभे !
व्यक्तेऽगुणे ! त्वं सगुणेऽसि मातः ! ।
विमोहिनी जीवततेरविद्या
विद्याऽपि कैवल्यप्रदा त्वमेव ॥ ६५ ॥
नित्यं तुरीयास्पदसम्प्रतिष्ठा-
विधायिनी ब्रह्ममयी त्वमेव ।
स्वाहा- स्वधाकार- वषट्स्वरूपे !
हे देवमातर्भवतीं नमामः ॥ ६६ ॥
त्वमेव मातः ! प्रतिकल्पमेव
सरस्वतीरूपमहो दधाना ।
स्वाध्यात्मशक्त्यर्षिप्रशान्तचित्त-
माविर्विधत्से च प्रणोद्य वेदान् ॥ ६७ ॥
वेदेषु संस्थापयसेऽथ मन्त्र-
शक्तिं हि गायत्र्यधिरूपतस्त्वम् ।
त्वमेव सावित्र्यधिरूपतश्च
यज्ञक्रियाशक्तिमथो वितन्य ॥ ६८ ॥
तत्साधकेभ्यो मनुजेभ्य आशु
निःश्रेयसञ्चाऽभ्युदयं ददासि ।

संरक्षण कराती हैं, हे सर्व्वशक्तिमयी ! हे व्यक्ताव्यक्तरूपिणी ! हे निर्गुणा सगुणा ! आपही जीवोंको मोहित करनेवाली अविद्या, जीवमुक्तिदात्री विद्या और आपही तुरीयपद-प्रतिष्ठितकारिणी ब्रह्ममयी हैं, हे स्वाहास्वधावषट्रूपिणी ! हे देवजननी ! आपको प्रणाम है ॥ ६४-६६ ॥ प्रतिकल्पमें आप सरस्वतीरूप धारण करती हुई अपनी अध्यात्मशक्तिकेद्वारा ऋषियोंके अन्तःकरणको प्रेरणा करके वेदका आविर्भाव करती हैं, गायत्रीरूपसे वेदोंमें मन्त्रशक्ति प्रदान करती हैं और सावित्रीरूपसे यज्ञकी क्रियाशक्ति विस्तार

अतो वयं ज्ञानप्रदेऽतिनम्रा—
हे वेदमातर्भवतीं नमामः ॥ ६९ ॥

महादेव्युवाच ॥ ७० ॥

अनुष्ठितेन युष्माभिर्ब्रह्मचक्रेण निर्ज्जराः ।
युष्माकञ्चैव सद्भक्त्या प्रसन्नाऽस्मि न संशयः ॥ ७१ ॥
पूर्णं कर्त्तुमहं देवा भवतां यदभीप्सितम् ।
सगुणं रूपमास्थाय प्रादुर्भूताऽस्मि साम्प्रतम् ॥ ७२ ॥
वर्त्तते भवतां देवा यत्किञ्चिद्वाञ्छितं शुभम् ।
व्याहरन्तु भवन्तस्तत् पूरयिष्याम्यहं ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

देवा ऊचुः ॥ ७४ ॥

महादेवि ! प्रभो ! मातर्भक्तमानसमन्दिरे ।
विहारिणी ! प्रसन्ने ! हे दयापूरिततमानसे ! ॥ ७५ ॥

करके मनुष्योंको अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करती हैं। हे वेद-जननी ! हे ज्ञानदे ! अतिनम्रतापूर्वक आपको प्रणाम है ॥ ६७–६९ ॥

महादेवी बोली ॥ ७० ॥

हे देवतागण ! आपके ब्रह्मचक्रके अनुष्ठान और आप सबोंकी भक्तिसे मैं प्रसन्न हुई हूँ ॥ ७१ ॥ मैं आपकी शुभ इच्छा पूर्ण करनेको सगुणरूपमें प्रकट हुई हूँ ॥ ७२ ॥ आपकी जो इच्छा हो, सो प्रकट करें। मैं उसको पूर्ण करूंगी ॥ ७३ ॥

देवतागण बोले ॥ ७४ ॥

हे जगज्जननी ! हे भक्त मनोमन्दिरविहारिणी। हे करुणामयी ! देवासुरसंग्राममें दुर्जेय असुरोंकी पराजय और हमारी जय

विबुधासुरसंग्रामे ह्यसुराणां पराजयः ।
अभून्नो विजयो देवि ! तत्तेऽपारकृपाफलम् ॥ ७६ ॥
अथवा भक्तवात्सल्यपरिणामोऽस्त्ययं तव ।
इच्छामः साम्प्रतं त्वेतद्वाङ्मनोबुद्ध्यगोचरम् ॥ ७७ ॥
भवत्या यत्स्वरूपं हि वर्त्तते परमाद्भुतम् ।
ज्ञानं तस्य प्रयच्छ त्वमुपदेशं तथेदृशम् ॥ ७८ ॥
तव सान्निध्यसम्प्राप्तिर्येन विन्देम सत्वरम् ।
अमङ्गलं कदाचिन्नो न भवेच्च महेश्वरी ! ॥ ७९ ॥

महादेव्युवाच ॥ ८० ॥

अहं हि कारणब्रह्म कार्य्यब्रह्मास्मि चाप्यहम् ।
देवाः ! कारणरूपेण सच्चिदानन्दमय्यहम् ॥ ८१ ॥
भूत्वैकाद्वैतसत्तायां भासमाना भवामि वै ।
सत्सत्तापरिविस्तृत्या ह्यहमेव पुनः सुराः ! ॥ ८२ ॥

आपकीही अपार कृपाका फल है ॥ ७५-७६ ॥ अथवा आपके भक्त वात्सल्यका फल है। अब हमलोगोंको यही इच्छा है कि, हमारे मन वचन और बुद्धिसे अतीत जो आपका स्वरूप है, उसका ज्ञान हमको प्रदान कीजिये और ऐसे उपदेश दीजिये, जिससे हम सब आपके सान्निध्यको प्राप्त करसकें, जिससे हे महेश्वरी ! हमारा अमङ्गल न हो ॥ ७७-७९ ॥

महादेवी बोली ॥ ८० ॥

हे देवतागण ! मैं ही कारणब्रह्म हूँ और मैंही कार्यब्रह्म हूँ। कारणरूपसे मैं ही सच्चिदानन्दमयी होकर एक अद्वैत सत्तामें भासमान होती हूँ। पुनः मैं ही मेरी सत्सत्ताके विस्तारद्वारा अहंममेतिवत् द्वैतभावको धारण करती हूँ। उस समय मेरी ही चित्सत्ता पुरुष

अहं ममेतिवद्द्वैतभावश्चैव विभर्म्यहो।
तदा ममैव चित्सत्ता पुरुषे प्रकृतौ तथा॥ ८३॥
सत्सत्ता प्रकटीभूय निश्चितं विबुधर्षभाः!।
जगदानन्दसत्ताया विलासं सृजतः स्वयम्॥ ८४॥
तदाहमेव भूत्वा वै पुरुषो बीजदस्तथा।
प्रकृतिः क्षेत्ररूपाऽस्मि कार्य्यब्रह्मणि भासिता॥ ८५॥
कार्य्यब्रह्मस्वरूपेऽत्र विश्वस्मिन् जङ्गमे मम।
वर्त्तते चिद्विलासस्तु स्थावरे सद्विलासिता॥ ८६॥
ममानन्दविलासोऽसौ व्याप्नुवन् सचिदन्तरम्।
ममैव परमानन्द-सत्तां समनुभावयेत्॥ ८७॥
अहमेवास्मि भो देवाः! सर्व्वेषामीश्वरी परा।
उत्पद्यन्ते त्रिभावाश्च त्रिगुणा मत्त एव हि॥ ८८॥
सृष्टिस्थितिलयांश्चैव त्रिगुणैरहमेव वै।
करोमि सततं देवाः! जगतां नात्र संशयः॥ ८९॥
मय्येवानुभवस्तेषां त्रिभावैर्भवति ध्रुवम्।
नानाब्रह्माण्डसङ्घं हि स्वगर्भे चाहमेव तम्॥ ९०॥

रूपमें और मेरी ही सत्सत्ता प्रकृतिरूपमें प्रकाशित होकर आनन्द-सत्ताके विलासरूपी इस जगत्को स्वयं प्रगट करती है, हे देवगण! यह निश्चय है॥ ८१-८४॥ उस समय मैं ही बीजदाता पुरुष और मैं ही क्षेत्ररूपी प्रकृति बनकर कार्य्यब्रह्मरूपमें भासमान होती हूँ॥ ८५॥ कार्य्यब्रह्मरूपी इस जगत्में जंगममें मेरा चिद्विलास और स्थावरमें मेरा सद्विलास रहता है॥ ८६॥ मेरा आनन्द विलास दोनोंमें व्याप्त रह कर मेरी ही परमानन्द सत्ताका अनुभव कराता है॥ ८७॥ हे देव-गण! मैं ही सबकी परमेश्वरी हूँ, तीनों भाव और तीनों गुण मुझसे ही उत्पन्न होते हैं॥ ८८॥ तीनों गुणोंसे ब्रह्माण्डोंका सृष्टि स्थिति लय कार्य्य मैं ही करती हूँ। हे देवगण! इसमें कुछ सन्देह नहीं॥ ८९॥ और तीनों भावोंद्वारा उनका अनुभव मुझमें ही होता है, हे देवगण!

सन्धार्य्य सततं देवाः ! देशकालस्वरूपतः ।
अनाद्यनन्तसत्तायाः कारयेऽनुभवं खलु ॥ ९१ ॥
ब्रह्माण्डानान्तु सर्व्वेषां प्रत्येकं प्रभवस्थिती ।
विधातुं प्रलयश्चापि जनये निजगर्भतः ॥ ९२ ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यांस्त्रीन् देवानन्वनेकशः ।
ब्राह्मीश्च वैष्णवीं रौद्रीं स्वांशरूपां सुरर्षभाः ! ॥ ९३ ॥
एता अनेकशस्तिस्रः शक्तीस्तेभ्यो वितीर्य्य वै ।
ब्रह्माण्डसङ्घप्रत्येकसृष्टिस्थितिलयक्रियाः ॥ ९४ ॥
त्रिभिर्देवैर्यथातथ्यं साधयामि यथाक्रमम् ।
यूयं सर्व्वे च भो देवा भावमाश्रित्य मामकम् ॥ ९५ ॥
आधिदैवमजायन्ताध्यात्मिकं च महर्षयः ।
आधिभौतिकमाश्रित्य पितरश्चाऽपि जज्ञिरे ॥ ९६ ॥
असुरा अपि भो देवा वर्त्तन्ते मद्विभूतयः ।
अहमादिश्च सर्व्वेषां व्याप्ता चास्मि दिवौकसः ॥ ९७ ॥
सर्वत्र शक्तिरूपेण निखिलं हि चराचरम् ।
नित्याद्वैतदशायान्तु शाश्वतं सुरसत्तमाः ! ॥ ९८ ॥

मैं ही अपने गर्भमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंको धारण करके देश और कालरूपमें अपनी अनादि और अनन्त सत्ताका निरन्तर अनुभव कराती हूँ ॥ ९०–९१ ॥ हे देवगण ! प्रत्येक ब्रह्माण्डमें प्रत्येक ब्रह्माण्डकी सृष्टि स्थिति और लय क्रिया सुसम्पन्न करनेकेलिये अपने गर्भसे ब्रह्मा विष्णु और महेशरूपी अनेक त्रिदेवोंको उत्पन्न करती हूँ और अपनी ही अंशरूप ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री ये अनेक त्रिविध शक्तियाँ उनको यथाक्रम देकर प्रत्येक ब्रह्माण्डकी सृष्टि स्थिति और लय क्रियाका ठीक ठीक साधन करती हूँ । हे देवतागण ! आप सभी मेरे अधिदैवभावको आश्रय करके मुझसे ही प्रकट हुए हो । ऋषिगण मेरे अध्यात्मभावके आश्रयसे प्रगट हुए हैं और पितृगण मेरे अधिभूतभावसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ९२—९६ ॥ हे देवगण ! असुरगण भी मेरी ही विभूति

स्वस्वरूपे च मे देवा मच्छक्तिरवतिष्ठते।
स्वरूपे स्वे च मे देवास्तुरीयाया ममैव हि ॥ ९९ ॥
शक्तेर्बलाद्धि जागर्त्ति सर्वदानुभवः किल।
सच्चिदानन्दरूपस्य त्रिभावस्य न संशयः ॥ १०० ॥
दशाऽद्वैताऽनुभूयेत मच्छक्त्यैव तुरीयया।
तस्या एव तुरीयाया मच्छक्तेर्बलतः खलु ॥ १०१ ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थैरात्मारामैर्महात्मभिः।
जीवन्मुक्तैः प्रतीयेऽहमाद्यन्तरहिते विभौ ॥ १०२ ॥
अद्वैते निर्विकारे हि स्वरूपे चिन्मये सुराः!।
ममैव विबुधा नूनं शक्तिः कारणरूपिणी ॥ १०३ ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानां जननी नात्र संशयः।
मत्सूक्ष्मशक्तिरेवाहो दैवीं शक्तिं प्रयच्छति ॥ १०४ ॥
पितृदेवर्षिवृन्देभ्यो नानादेवीस्वरूपिणी।
जगत्स्थूलप्रपञ्चोऽयं स्थूलशक्तेर्ममैव हि ॥ १०५ ॥
नानाभेदान् समाश्रित्य नानारूपेषु जायते।
स्थूलप्रपञ्चरूपं हि जगद्यस्य स्थ रक्षकाः ॥ १०६ ॥

हैं। मैं सबकी आदि हूँ। मैं ही शक्तिरूपसे सब जगह व्याप्त हूँ। मेरे स्वरूपमें मेरी शक्ति नित्य अद्वैत दशामें सर्व्वदा स्थित है। मेरे स्वस्वरूपमें मेरी ही तुरीया शक्तिके बलसे सत् चित् और आनन्दरूपी तीनों भावोंका अनुभव बना रहता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ ९७–१०० ॥ मेरी तुरीया शक्तिसे ही अद्वैत दशाका अनुभव होता है। हे देवगण! उसी तुरीया शक्तिके बलसे मैं निर्विकल्प समाधिमें स्थित आत्माराम जीवन्मुक्त महात्माओंको आदि अन्तरहित विभु निर्विकार अद्वैत चिन्मयरूपमें प्रतीत होती हूँ। मेरी कारण शक्ति ब्रह्मा विष्णु महेशकी जननी है, इसमें सन्देह नहीं और मेरी सूक्ष्म शक्ति ही नाना देवी रूप धारण करके ऋषि देवता पितरोंको दैवी शक्ति प्रदान करती है। जगत्का स्थूल प्रपञ्च मेरी ही स्थूल शक्तिके अनन्त

यूयं देवगणाः सर्व्वे स्थूलशक्तेर्ममैव च।
परिणामस्वरूपं तज्जानीत सुरसत्तमाः॥ १०७॥
अविद्यारूपमाश्रित्य ह्यहमेव जगत्सुराः!।
उत्पादये पुनश्चाहं विद्यारूपमधिश्रिता॥ १०८॥
जगतोऽस्य लयस्थानं बोधयामि दिवौकसः!।
अहं द्रष्ट्री च दृश्या च शक्तिः शक्तिमती तथा॥ १०९॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदं तत्त्वज्ञानविवर्ज्जिताः।
बालिशा एव पश्यन्ति न तत्त्वज्ञानिनो जनाः॥ ११०॥
अभेदज्ञानसम्पन्नाः शक्तेः शक्तिमतस्तथा।
तत्त्वज्ञाननदीष्णाता ज्ञानाब्धिपारदर्शिनः॥ १११॥
सात्त्विकाभेदसज्ज्ञान-बलान्मां प्राप्नुवन्त्यहो।
अहमेव पराभक्त्या ज्ञानिनो विबुधर्षभाः॥ ११२॥
सन्निधौ भक्तवर्गस्य प्रादुर्भावमवाप्नुयाम्।
ब्रह्मेश्वरविराड्रूप-त्रिभावेषु न संशयः॥ ११३॥

भेदोंको आश्रय करके अनन्तरूपमें प्रकट हुआ करता है। यह स्थूल प्रपञ्चमय जगत् जिसके आप सब रक्षक हो, मेरी ही स्थूल शक्तिका परिणाममात्र है। हे देवगण! इसको आप जानें॥ १०१-१०७॥ हे देवगण! मैं ही अविद्यारूपसे जगत्को प्रकट करती हूँ और मैं ही विद्यारूप धारण करके जगत्के लय-स्थानको लक्ष्य कराती हूँ। मैं ही दृश्य हूँ और मैं ही द्रष्टा हूँ। मैं ही शक्ति हूँ। मैं ही शक्तिमान् हूँ॥ १०८-१०९॥ शक्ति और शक्तिमान्में भेद तत्त्वज्ञान विहीन मूर्ख जीव ही समझते हैं परन्तु ज्ञानीगण नहीं मानते हैं॥ ११०॥ शक्ति और शक्तिमान्में अभेद ज्ञान करनेवाले ज्ञानपारंगत तत्त्वज्ञानी महापुरुष सात्त्विक अभेद ज्ञानके बलसे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे देवगण! मैं ही ज्ञानी भक्तके सम्मुख पराभक्तिकेद्वारा ब्रह्म ईश विराट्रूपी त्रिभावमें प्रगट होती हूँ, इसमें सन्देह नहीं॥ १११-११३॥ हे देवगण! वे तत्त्वज्ञानी ज्ञानी भक्त जो मेरे तत्त्वा-

ते तत्त्वज्ञानिनो भक्ता ज्ञानिनो ये परात्परम् ।
तत्त्वातीतश्च मे तत्त्वं बुध्यन्ते साधु निर्ज्जराः ! ॥ ११४ ॥
मां कदाचिदनाद्यन्तविराड्रूपस्य धारिणीम् ।
निरीक्षन्ते कदाचित्तु नानाशृङ्गारभास्वरम् ॥ ११५ ॥
सगुणं मेऽद्भुतं रूप-मुपासीना निरन्तरम् ।
देवा अनुभवन्त्येव ब्रह्मानन्दमलौकिकम् ॥ ११६ ॥
समाधिस्थाः कदाचित्तु तत्त्वातीतं परात्परम् ।
महात्मानश्च मे तत्त्वं सम्प्रत्येतुं समीशते ॥ ११७ ॥
अचिन्त्यं केवलाद्वैतज्ञानलोचनगोचरम् ।
दशामेतां समासाद्य मद्भक्ता ज्ञानिनोऽमराः ! ॥ ११८ ॥
स्वरूपं मेऽधिगच्छन्ति परमानन्दसागरम् ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते विबुधर्षभाः ! ॥ ११९ ॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवीदेवसम्वादे शक्तिशक्तिमतोरभेद-योगवर्णनं नाम प्रथमोध्यायः ।

तीत परम तत्त्वको भलीभाँति जान जाते हैं, मुझे कभी अनादि, अनन्त, विराट्रूपधारिणी देखते हैं, कभी मेरे नाना शृङ्गारमय अद्भुत सगुण रूपमें मेरी उपासना करते हुए अलौकिक ब्रह्मानन्दको निरन्तर अनुभव करते हैं और कभी वे महात्मा समाधिस्थ होकर मेरे तत्त्वातीत, केवल अद्वैत ज्ञानविषयक अचिन्त्य परमतत्त्वके अनुभवमें समर्थ होते हैं। इस दशामें पहुँचकर हे देवतागण! मेरे ज्ञानी भक्तगण मेरे ही परमानन्द सागर-रूप स्वरूपको प्राप्त होते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ११४–११९ ॥

इति श्रीशक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि महादेवीदेव-सम्वादात्मक योगशास्त्रका शक्ति और शक्तिमान्का अभेदयोगवर्णन नामक प्रथम अध्याय समाप्त।

चित्कलाविज्ञानयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

देवमातर्जगन्मातर्ज्ञानदे ! ब्रह्मरूपिणि ! ।
नैवासीद्विदितं किञ्चित्स्वरूपं ते यथार्थतः ॥ २ ॥
महामान्ये ! महादेवि ! महाहङ्कारमोहिताः ।
किंकर्त्तव्यविमूढ़ा वै अत आस्म पुरा वयम् ॥ ३ ॥
अखण्डञ्च तवाद्वैतं स्वरूपं त्वन्मुखाम्बुजात् ।
निशम्याद्य वयं मातः ! शक्तिशक्तिमतोस्तथा ॥ ४ ॥
अभेदं ननु विज्ञाय तं तत्त्वज्ञानमूलकम् ।
तत्त्वज्ञानप्रसूं दिव्यामन्तर्दृष्टिमवाप्नुम ॥ ५ ॥
साम्प्रतं सफलं विद्मो निजास्तित्वं न संशयः ।
इदानीं दयया देवि ! स्वकलावर्णनं कुरु ॥ ६ ॥
येन चानुभवं कर्त्तुं भवत्याः सर्वथा वयम् ।
शक्नुयाम जगन्मातः ! कलारूपेण सर्वतः ॥ ७ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे देवजननी ! हे जगज्जननी ! हे ब्रह्मरूपिणी ! हे ज्ञानदे ! हमलोगोंको आपका यथार्थस्वरूप कुछ भी विदित नहीं था ॥ २ ॥ इस कारण हे परममाननीया महादेवी ! हम अहङ्कार विमोहित होकर पहले किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे ॥ ३ ॥ हे मातः ! आज आपके अखण्ड अद्वैत स्वरूपको आपके मुखारविन्दसे सुनकर तथा शक्ति और शक्तिमान्में जो तत्त्वज्ञानमूलक अभेद है, उसको जानकर हमने तत्त्वज्ञानजननी दिव्य अन्तर्दृष्टि प्राप्त की है ॥ ४-५ ॥ अब हम निःसन्देह अपने अस्तित्वको सफल समझते हैं। हे जगन्मातः ! हे देवी ! अब आप कृपा कर अपनी कलाओंका वर्णन करें, जिससे हम सर्वत्र कलारूपसे आपको अनुभव करनेमें सर्वथा समर्थ हो सकें ॥ ६-७ ॥

महादेव्युवाच ॥ ८ ॥

दृश्यप्रपञ्चजातेऽस्मिन्निखिले सचराचरे।
अभिव्यक्ताऽस्मि भो देवाः! कलारूपेण सर्वतः ॥ ९ ॥
परं दृश्यप्रपञ्चस्तु नैवास्ते मयि निर्ज्जराः।
मय्यास्ते पूर्णसद्भावः कलाषोडशकान्वितः ॥ १० ॥
चिद्भावानन्दभावौ स्तः कलापूर्णौ च मय्यतः।
कलाषोडशकोपेतसच्चिदानन्दमय्यहम् ॥ ११ ॥
यतोऽहं सच्चिदानन्दभावैः पूर्णैश्च पूरिता।
अन्तःपूर्णा बहिःपूर्णा पूर्णाऽतोऽस्मि च सर्वथा ॥ १२ ॥
सच्चिदानन्दभावानां न्वेकैककलाश्रयः।
दृश्यप्रपञ्चपुञ्जोऽयं समुद्भूतोऽखिलो मम ॥ १३ ॥
एतास्तिस्रस्त्रिभावानां विश्वं व्याश्नुवते कलाः।
आधिदैविकमाध्यात्मं रूपं धृत्वाऽधिभौतिकम् ॥ १४ ॥

महादेवी बोली ॥ ८ ॥

हे देवतागण! मैं ही कलारूपसे इस सारे चराचर दृश्य प्रपञ्च-समूहमें व्यापक रूपसे प्रकट हूँ ॥ ९ ॥ परन्तु मुझमें दृश्यप्रपञ्च नहीं है। मुझमें हे देवगण! सोलह कलाओंसे पूर्ण सद्भाव, सोलह कलाओंसे पूर्ण चिद्भाव और सोलह कलाओंसे पूर्ण आनन्दभाव विद्यमान है; इसलिये मैं षोडश कलाओंसे युक्त सच्चिदानन्दस्वरूपा हूँ ॥ १०-११ ॥ मुझमें पूर्ण सच्चिदानन्दभाव विद्यमान है। इसलिये मैं अन्तःपूर्ण बहिःपूर्ण तथा सबप्रकारसे पूर्ण हूँ ॥ १२ ॥ मेरी सद्भावकी एक कला, चिद्भावकी एक कला और आनन्दभावकी एक कलामात्रसे ही यह सारा दृश्य प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है ॥ १३ ॥ ये ही तीन कलायें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूप धारण करके जगत्‌में व्याप्त हैं ॥ १४ ॥

आध्यात्मिक्यः कलाः सर्वा मम षोडशसङ्ख्यकाः ।
प्रपूर्य्यन्ते शिवेऽतोऽतोऽसौ महर्ष्यादिर्जगद्गुरुः ॥ १५ ॥

मत्कला आधिदैविक्यः प्रपूर्य्यन्ते यतो हरौ ।
अतो देवादिदेवोऽयं विश्वस्मिन् विष्णुरुच्यते ॥ १६ ॥

ममावतारसङ्घोऽपि विष्ण्वंशैरेव जायते ।
विधौ षोडश पूर्य्यन्ते ह्यधिभूतकला मम ॥ १७ ॥

अतः प्रजापतीनाञ्चाऽसावस्त्यादिः पितामहः ।
ममाध्यात्मकलानाञ्च षोडशानां पुराऽमराः ! ॥ १८ ॥

भूत्वा सप्तर्षिवर्गेषु विकाशो याति हेतुताम् ।
अनेकेषां महर्षीणां ज्ञानविस्तारकारिणाम् ॥ १९ ॥

कलाविशेषमेतासां सन्दधाना वितन्वते ।
अवतीर्य्यर्षयो ज्ञानं लोकानेत्य चतुर्दश ॥ २० ॥

समासाद्याऽऽधिदैवीर्मे कला षोडशसङ्ख्यकाः ।
वसवोऽष्टौ यमेन्द्रौ च रुद्रा एकादशामराः ! ॥ २१ ॥

मेरी आध्यात्मिक षोडश कलाओंकी पूर्णता शिवमें प्रकाशित होनेसे ये सब ऋषियोंके आदि और जगत्के गुरु हैं ॥ १५ ॥ मेरी अधिदैव कलाओंकी पूर्णता विष्णुमें होनेसे ये संसारमें देवादिदेव कहे जाते हैं ॥ १६ ॥ इसीलिये मेरे अवतारसमूह विष्णुके अंशसे ही आविर्भूत होते हैं। मेरी अधिभूत कलाओंकी पूर्णता ब्रह्मामें है। इस कारण ये प्रजापतियोंके आदि और पितामह कहे जाते हैं। हे देवगण ! मेरी अध्यात्म षोडश कलाओंका विकाश प्रथम सप्तर्षियोंमें होकर ज्ञानके चालक नाना ऋषियोंका कारण बनता है ॥ १७–१९ ॥ ऋषियोंके अवतारगण मेरी इन कलाओंमेंसे विशेष २ कलाओंको धारण करके चतुर्दश भुवनमें ज्ञानका विस्तार करते हैं ॥ २० ॥ हे देवगण ! मेरी अधिदैव षोडश कलाओंको प्राप्त करके अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, यम और इन्द्र ये तैंतीस देवता

द्वादशादित्यसम्मिश्रा देवास्त्रिंशत्त्रयस्तथा ।
प्रादुर्भवन्त्यमी सर्व्वे नित्या नैमित्तिकास्ततः ॥ २२ ॥
व्यवस्थां कर्म्मराज्यस्य प्रादुर्भूय प्रकुर्वते ।
अनेके पितरश्चैवं ये प्रजापतयो दश ॥ २३ ॥
षोडशालम्ब्य कुर्वन्ति तेऽधिभूतकला मम ।
नानावैचित्र्यपूर्णायाः सृष्टेरस्या व्यवस्थितिम् ॥ २४ ॥
अन्तिकं नृंश्च मे नेतुं नितरामग्रगामिनः ।
व्याप्ताप्यस्यां कलारूपाज्जगत्यां सर्वतः सुराः ! ॥ २५ ॥
अद्वितीयाऽहमेकास्मि शुद्धा बुद्धा च शाश्वती ।
सीमा नास्त्येव भो देवाः ! कलाविश्लेषणस्य मे ॥ २६ ॥
शक्तेर्मय्यवतिष्ठन्ते कलाः षोडश सर्वदा ।
अतोहं सर्व्वशक्तीनामस्म्याधारस्वरूपिणी ॥ २७ ॥
कलारूपैः कलापूर्णा शक्तिः सा मेऽश्नुते जगत् ।
तस्यास्तासां कलानान्तु वित्तभेदाननेकशः ॥ २८ ॥
ममैवैका कला शक्तेरुद्भिज्जेषु विकाशते ।
स्वेदजेषु कलाद्वैतमण्डजेषु कलात्रयम् ॥ २९ ॥

तथा अनेक नित्य नैमित्तिक देवता प्रकट होकर कर्म्मराज्यकी सुव्यवस्था करते हैं। इसीप्रकार मेरी अधिभूत षोडश कलाओंको अवलम्बन करके दश प्रजापति और नाना पितृगण प्रकट होकर नानाविचित्रतापूर्ण सृष्टिकी सुव्यवस्था करते हैं ॥ २१-२४ ॥ और मनुष्योंको मेरीओर निरन्तर अग्रसर करते है। हे देवतागण ! मैं कलारूपिणी होकर इस जगत्में व्याप्त होने पर भी एक अद्वितीय शुद्ध बुद्ध और नित्य हूं। मेरी कलाओंके विश्लेषणका पार नहीं है ॥ २५-२६ ॥ मुझमें शक्तिकी षोडश कला सर्वदा विद्यमान है। इसलिये मैं सब शक्तियोंकी आधारस्वरूपा हूं ॥ २७ ॥ कलाओंसे पूर्ण वही मेरी शक्ति कलारूपसे जगत्में परिव्याप्त है। उस शक्तिकी उन कलाओंके अनेक भेद हैं, ॥ २८ ॥ मेरी शक्तिकी एक कलाका उद्भिज्जमें, स्वेदजमें दो कलाओंका, अण्डजमें

चतस्रश्च कला भान्ति जरायुजगणेऽखिले ।
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वान्मर्त्येषु प्रायशोऽमराः ! ॥ ३० ॥
आकलापञ्चकादष्ट कला नूनं चकासति ।
नवारभ्य कला यावत्षोड़शं मे यथायथम् ॥ ३१ ॥
सम्विकाश्यावतारेषु नानाकेन्द्रोद्भवेषु च ।
कुत्रचिन्मे प्रपूर्य्यन्तेऽवतारे पूर्णसंज्ञके ॥ ३२ ॥
मच्छक्तेः षोड़शानान्तु कलानामस्ति पूर्णता ।
मदाज्ञारूपधर्म्मेऽतो ज्ञेयो धर्म्मः सनातनः ॥ ३३ ॥
अस्म्यतः सर्व्वधर्म्माणामाश्रयस्थलमुत्तमम् ।
स्थूलसूक्ष्मात्मकं विश्वं समस्तं सचराचरम् ॥ ३४ ॥
मदादेशात्मको धर्म्मो नित्यमेव बिभर्त्ति सः ।
धर्म्मशक्तेर्हि मे पूर्णाः कलाः षोडशसंख्यकाः ॥ ३५ ॥
आर्य्यजातीयधर्म्मेषु विद्यन्ते विबुधर्षभाः ! ।
आर्य्यजातिरतोऽन्यासामस्त्याद्यः शिक्षको गुरुः ॥ ३६ ॥

तीन कलाओंका और सब जरायुजोंमें चार कलाओंका विकाश होता है। हे देवगण ! पञ्चकोषके पूर्ण अधिकारी होनेके कारण मनुष्योंमें पांच कलाओंसे लेकर आठ कलाओं तकका विकाश होता है और साधारणतः नाना केन्द्रोंसे आविर्भूत मेरे अवतारोंमें नवसे लेकर सोलह कलाओंका यथावश्यक विकाश होकर किसी पूर्णावतारमें सोलह कलायें पूर्ण विकसित होती है ॥२९-३२॥ मेरी शक्तिकी षोडशकलाओंकी पूर्णता मेरी आज्ञारूपी धर्म्ममें विद्यमान है, इसीकारण धर्म्मको सनातन जानना उचित है ॥ ३३ ॥ इसीलिये मैं सब धर्म्मोंकी उत्तम आश्रयस्थल हूं और इसीसे मेरी आज्ञारूपी धर्म्मही स्थूलसूक्ष्मात्मक तथा स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत्का सर्व्वदा धारक है। मेरी धर्म्मशक्तिकी पूरी षोडश कलायें आर्य्य जातिके स्वधर्म्ममें विद्यमान हैं; इसलिये आर्य्यजाति जगत्की अन्यान्य जातियोंकी आदिशिक्षक तथा

आर्य्यधर्म्मोऽन्यधर्म्माणां जनकः पालकोऽस्ति च।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यतेऽदितिनन्दनाः ! ॥ ३७ ॥
यज्ञो दानं तपश्चेति धर्माङ्गत्रयमेव हि।
मोक्षदं स्यात्प्रपूर्णं सद्वर्द्धयत् क्रमशः कलाः ॥ ३८ ॥
धर्मः किन्तु कलानाञ्च साहाय्यात्सम्विभज्यते।
नैकाङ्गोपाङ्गपुञ्जेषु सम्प्रदायव्रजेष्वपि ॥ ३९ ॥
विधत्तेऽभ्युदयञ्चैष नृणां नानाधिकारिणाम्।
धारिकाया द्विधा भिन्ना धर्मशक्तेः कलाः सुराः ! ॥ ४० ॥
सत्प्रवृत्त्यात्मकं नूनं निवृत्त्यात्मकमेव च।
नारीधर्म्मं नृधर्म्मञ्च न्यस्यन्तीह पृथक्तया ॥ ४१ ॥
प्रवृत्त्यात्मकधर्मस्य संस्थाप्यादर्शमुत्तमम्।
नन्वहं विष्णुरूपेण धर्म्मान् वर्णाश्रमाभिधान् ॥ ४२ ॥
मानवैः पालयन्तीह मुक्तेस्तानास्पदं नये।
भूयः शम्भुस्वरूपेण यथावर्णाश्रमं शनैः ॥ ४३ ॥

गुरु है और आर्य्य धर्म्म अन्यान्य धर्म्मोंका जनक तथा पालक है, हे देवतागण ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३४-३७ ॥ यद्यपि यज्ञ, तप और दान येही धर्म्मके तीन अङ्ग क्रमशः धर्म्मकलाओंकी अभिवृद्धि करते हुए पूर्णताको प्राप्त होकर मुक्तिप्रद होते हैं ॥ ३८ ॥ किन्तु धर्म्म अपनी कलाओंकी सहायतासे अनेक अंग उपांग और सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर विभिन्नप्रकारके अधिकारियोंका अभ्युदय करता है। हे देवतागण ! धर्म्मकी धारिका शक्तिकी पूर्णकला दो भागोंमें विभक्त होकर प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमूलक पुरुषधर्म्म और नारीधर्म्मको अलग २ स्थापित करती है ॥ ३९-४१ ॥ मैं ही विष्णुरूपसे प्रवृत्तिधर्म्मका उत्तम आदर्श स्थापन करके मनुष्योंको स्ववर्णाश्रमधर्म्मका पालन कराती हुई उनको कैवल्यपदकीओर अग्रसर करती हूं और मैंही पुनः शिवरूपसे वर्णाश्रमधर्म्मके अनु-

निवृत्त्यात्मकधर्म्मस्य सत्यध्वपरिदर्शिका ।
पन्थानं दुगमं मुक्तेः कुर्व्वेऽहं सुगमं द्रुतम् ॥ ४४ ॥
उपदिष्टे अतो वेदैरुपास्तिर्ध्यानमप्यहो ।
मज्जद्गुरुरूपस्य शिवविष्णुस्वरूपयोः ॥ ४५ ॥
नारीधर्म्मार्थमप्यैवं मत्स्वरूपत्रयं सुराः ! ।
ग्राह्यमादर्शरूपेण विश्वकल्याणसम्पदे ॥ ४६ ॥
अहमेव महामाया प्रोच्ये भेदविवर्ज्जिता ।
गौरी प्रेमप्रधानाऽहं दुर्गा शक्तिप्रधानिका ॥ ४७ ॥
एतद्रूपत्रयं नूनं सती नारी त्रिभर्त्यहो ।
पुण्ये भारतवर्षेऽस्मिन्नार्य्यजातौ प्रजायते ॥ ४८ ॥
आर्य्यजातौ हि नारीणामादर्शः परमः सती
जगन्माता महामाया ब्रह्मशक्तिः सनातनी ॥ ४९ ॥
परब्रह्मणि सा नित्यमेवं लीना यतोस्तिता ।
तस्या भाति पृथङ्नातोऽद्वितीयं ब्रह्म निर्गुणम् ॥ ५० ॥

सार शनैः शनैः निवृत्तिधर्म्मकी पथप्रदर्शक बनकर कठिन मुक्ति पथको शीघ्र सरल करती हूं ॥ ४२-४४ ॥ इसी कारण मेरे जगद्गुरुस्वरूपकी उपासना और ध्यान इन्हीं विष्णु और शिवरूपमें करनेकी आज्ञा वेदने दी है ॥ ४५ ॥ हे देवतागण ! नारीधर्म्मकेलिये भी मेरे तीन स्वरूप आदर्शरूपसे जगत्‌कल्याणार्थ अवलम्बनीय हैं ॥ ४६ ॥ भेद-रहित रूपसे मैंही महामाया, प्रेमप्रधाना मैंही गौरी और शक्तिप्रधाना मैंही दुर्गा कही जाती हूं ॥ ४७ ॥ जो सती नारी पवित्र भारतवर्ष और आर्य्यजातिमें उत्पन्न होती है, वह इन तीनों स्वरूपोंको अवश्य धारण करती है ॥ ४८ ॥ आर्य्यजातिमें स्त्रियोंकी परम आदर्शरूपा जगन्माता महामाया सनातनी ब्रह्मशक्ति सती देवी हैं ॥ ४९ ॥ वे इस प्रकारसे परब्रह्ममें लीन रहती हैं कि, उनका अस्तित्व अलग नहीं विदित होता है । इसी कारण ब्रह्म निर्गुण और अद्वितीय हैं ॥ ५० ॥

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः ।
अभेदश्चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ५१ ॥

सत्प्रेम्णैव सती नारी यथा ब्रह्मण्यहं तथा ।
पत्यौ तन्मयतामेत्य पुरुषत्वं प्रपद्यते ॥ ५२ ॥

प्रेम्णोऽस्ति त्रिविधो भेदस्तत्राद्यः स ममेत्ययम् ।
अहं तस्येत्ययं मध्यः सोऽहमस्मीति चान्तिमः ॥ ५३ ॥

इहाद्वैतदशायां हि स्वानुभूत्येकगोचरः ।
ब्रह्मणस्तस्य शक्तेश्च भेदाभावः प्रसिध्यति ॥ ५४ ॥

दाम्पत्यप्रेम्ण एवैषा दशा सर्व्वोत्तमा मता ।
द्वैतसङ्कुलसंसारे प्रेमाऽयमतिदुर्लभः ॥ ५५ ॥

परमज्ञानजननी महामायैव सर्वथा ।
सर्व्वोत्तमपतिप्रेम्ण आदर्शो विद्यते स्वतः ॥ ५६ ॥

शक्तिमान् ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामाया, इन दोनोंमें भेद यद्यपि कहा जाता है परन्तु वस्तुतः तत्त्वदर्शी योगीलोग दोनोंमें अभेद देखते हैं ॥ ५१ ॥ जिसप्रकार ब्रह्मशक्ति ब्रह्ममें अभेदभावसे लीन रहती है, उसीप्रकार सती स्त्री उत्तम प्रेमकेद्वारा पतिमें तन्मयता प्राप्त होकर पुरुषत्वको प्राप्त हो जाती है ॥ ५२ ॥ प्रेमके तीन भेद हैं। उनमेंसे पहला "वे मेरे हैं" यह है, "मैं उनकी हूं" यह मध्यम अर्थात् द्वितीय है और "वे मैं हूं" अर्थात् वे और मैं एक ही हूं, यह अन्तिम है ॥ ५३ ॥ इस अन्तिम प्रेममें अद्वैत दशा होती है, जिसमें स्वानुभवमात्रगम्य ब्रह्म और उनकी शक्तिका भेदाभाव (अभिन्नता) सिद्ध होता है ॥ ५४ ॥ यही दाम्पत्य-प्रेमकी सर्वोत्तम दशा मानी गयी है । द्वैतभावपूर्ण संसारमें यह प्रेम अति दुर्लभ है ॥ ५५ ॥ परमज्ञानकी जननी महामाया ही सब प्रकारसे सर्व्वोत्तम पतिप्रेमकी स्वतः आदर्शरूपा है ॥ ५६ ॥

सती द्वैतदशायां हि शिवहृद्वासिनी शिवा ।
नार्य्यादर्शोऽस्ति तद्दुर्गा देवीषु परमा मता ॥ ५७ ॥
स ममेत्यहमस्येति परिशुद्धे उभे दशे ।
चरित्रे विमले तस्याः शिवायाः पूर्णतां गते ॥ ५८ ॥
अहमस्य भवामीति विज्ञानस्यानुसारतः ।
सतीभावे सदा गौरी विद्यारूपैव विद्यते ॥ ५९ ॥
अत एव च सा देवी पतिनिष्ठा पतिव्रता ।
पत्युर्निंदां निशम्यैव स्वकीयं वपुरत्यजत् ॥ ६० ॥
अनन्यप्रणयेनैव शिवे ब्रह्ममये शिवा ।
विद्यास्वरूपा सा देवी वर्त्तते विमलाशया ॥ ६१ ॥
सर्व्वशक्तिमयी दुर्गा स ममास्तीति बोधतः ।
ब्रह्मणो निखिला शक्तिः स्वतस्तत्र प्रकाशते ॥ ६२ ॥
कार्त्तिकेयो बलेशोऽतो गणेशो बुद्ध्यधीश्वरः ।
लक्ष्मीर्धनेश्वरी विद्याधीश्वरी च सरस्वती ॥ ६३ ॥

(दाम्पत्यप्रेममें ये ही तीन रीतियाँ प्रेमकी सर्व्वोत्तम कही गयी हैं) शिवहृद्वासिनी सती शिवा द्वैतदशामें नारी जातिकी आदर्श रूपा है, इसीकारण देवियोंमें दुर्गा श्रेष्ठ मानी गयी हैं ॥ ५७ ॥ "वे मेरे हैं" और "मैं उनकी हूं" ये दोनों परिशुद्ध दशायें उन शिवाके विमल चरित्रमें पूर्णताको प्राप्त हुई हैं ॥ ५८ ॥ "मैं उनकी हूं" इस विज्ञानकेअनुसार सतीभावमें गौरी सदा विद्यारूपा ही है ॥ ५९ ॥ इसी कारण उन पतिनिष्ठा पतिव्रता देवीने पतिकी निन्दा सुनते ही अपना शरीर त्याग कर दिया था ॥ ६० ॥ ब्रह्ममय शिवमें अनन्य प्रेमसे ही परम पवित्रा विद्यास्वरूपा वे शिवा देवी विद्यमान रहती हैं ॥ ६१ ॥ "वे मेरे हैं" इस ज्ञानसे दुर्गा ब्रह्मशक्तिमयी हैं। उनमें ब्रह्मकी सकल शक्तियां स्वतः प्रकाशित होती हैं ॥ ६२ ॥ इसीकारण बलाधीश कार्त्तिकेय, बुद्ध्यधीश्वर गणेश, धनेश्वरी लक्ष्मी और विद्याधीश्वरी सरस्वती उनकी सन्तान हैं।

तस्यास्सन्ति सुतास्तस्यां राजन्ते सर्वशक्तयः ।
बलबुद्धिधनज्ञानरूपापत्य- प्रभावतः ॥ ६४ ॥

सती गौरी पृथक् पत्युः सत्ताशून्याऽस्ति तन्मयी ।
दुर्गा तु पतिसम्बन्धात् सर्वशक्तिमयी स्थिता ॥ ६५ ॥

एषा गौरी च दुर्गा च धर्म्मादर्शौ यतस्ततः ।
आर्य्यनारीगणादर्शो जगन्मान्यो न चान्यथा ॥ ६६ ॥

नृणां प्रवृत्तिधर्म्मस्य गार्हस्थ्ये पूर्णता यथा ।
एवं निवृत्तिधर्म्मस्य सन्न्यासाश्रम उज्ज्वले ॥ ६७ ॥

तथैव गृहिणीधर्म्मे प्रवृत्तेः पूर्णता स्थिता ।
एवं निवृत्तिधर्मस्य नारीणां विधवाव्रते ॥ ६८ ॥

न्यूनाधिक्येन सर्वत्र कला यद्यपि मे सुराः ! ।
सर्व्वेषामेव धर्म्माणामङ्गोपाङ्गेषु जाग्रति ॥ ६९ ॥

तामसेऽङ्गव्रजे न्यूना राजसे तु ततोऽधिका ।
कला धर्म्मस्य विद्यन्ते पूर्य्यन्ते सात्विके स्वतः ॥ ७० ॥

बल, बुद्धि, धन और ज्ञानरूपी अपत्योंके प्रभावसे उनमें सब शक्तियां विराजमान हैं ॥ ६३–६४ ॥ सती गौरी पतिसे पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखतीं। वे तन्मयी हैं अर्थात् पतिमें तन्मयता-को प्राप्त हैं; परन्तु दुर्गा देवी पतिके सम्बन्धसे सर्वशक्तिमयी होकर स्थित हैं ॥ ६५ ॥ ये ही गौरी और दुर्गा नारीधर्मकी आदर्श रूपा हैं। इसी कारण आर्य्यनारियोंका आदर्श ही जगत्‌में माननीय है ॥ ६६ ॥ जैसे मनुष्योंके प्रवृत्तिधर्मकी पूर्णता गृहस्थाश्रममें और निवृत्ति-धर्म्मकी पूर्णता उज्ज्वल सन्न्यासाश्रममें होती है ॥ ६७ ॥ वैसे ही गृहिणीधर्ममें स्त्रियोंके प्रवृत्तिधर्मकी पूर्णता स्थित है और स्त्रियोंके निवृत्तिधर्मकी पूर्णता विधवाव्रतमें होती है ॥ ६८ ॥ हे देवगण ! यद्यपि मेरी कला थोड़ी बहुत सब धर्मके अङ्ग उपाङ्गोंमें स्थित है ॥ ६९ ॥ किंतु धर्मके तामसिक अंग उपाङ्गोंमें मेरी थोड़ी कला विद्यमान

पूर्णा धर्म्मकला नूनं धार्म्मिकेभ्यो दिवौकसः ! ।
पुनरावृत्तिशून्यं तत्कैवल्यं दातुमीशते ॥ ७१ ॥
तिथिष्वन्यासु सर्व्वासु द्वितीयादिषु निर्ज्जराः ! ।
विवर्द्धयन् कलाः स्वीयाः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ ७२ ॥
पूर्य्यते पौर्णमास्यां हि कलाषोडशकेन च ।
नारीरूपे तथा देवाः ! कलाषोडशका मम ॥ ७३ ॥
विकाशं क्रमशो लब्ध्वा षोडश्यां हि प्रपूर्य्यते ।
अस्त्येवं सात्त्विको धर्मो विशिष्टः सर्वशक्तितः ॥ ७४ ॥
वर्णधर्म्मे प्रपूर्णत्वे प्रवृत्तिरोधके सति ।
धार्म्मिकस्वकलानां मे साधिभौतिकशुद्धिकम् ॥ ७५ ॥
आत्मज्ञानाधिकारित्वं ब्राह्मणेषूपजायते ।
एवमाश्रमधर्मेऽपि निवृत्तेः पोषके शुभे ॥ ७६ ॥
विकाशं क्रमशो गत्वा कलाषोडशकं मम ।
सत् सन्न्यासाश्रमे पूर्णं योगिनस्तत्त्ववेदिनः ॥ ७७ ॥

है, राजसिक अङ्ग उपाङ्गोंमें उससे अधिक कला विद्यमान है और सात्त्विक अंग उपांगोंमें मेरी पूर्ण षोडशकला पूर्ण होकर धार्मिकोंको हे देवगण ! पुनरावृत्तिशून्य मुक्ति देनेमें अवश्य समर्थ होती है ॥ ७०–७१ ॥ हे देवतागण ! जिसप्रकार शुक्लपक्षमें चन्द्रमा द्वितीयादि अन्यान्य सब तिथियोंमें अपनी कलाओंको बढ़ाता हुआ पूर्णिमाके दिन सोलह कलाओंसे पूर्ण हो जाता है, उसीप्रकार मेरी सोलह कलायें स्त्रियोंमें क्रमशः विकाश प्राप्त करती-हुई षोडशीमें (सोलह वर्षकी स्त्रीमें) पूर्ण हो जाती हैं । सात्त्विक धर्म भी उसीप्रकार सब शक्तियोंसे पूर्ण है ॥ ७२–७४ ॥ प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म्ममें मेरी धार्मिक कलाओंका पूर्ण विकाश हो जानेपर ब्राह्मणवर्णमें आधिभौतिक शुद्धिके साथ २ आत्मज्ञानका अधिकार प्राप्त हो जाता है । उसीप्रकार निवृत्तिपोषक पवित्र आश्रमधर्म्ममें मेरी षोडश कलाओंका क्रमशः विकाश होते २ अंतमें सन्न्यासाश्रममें जीवन्मुक्तिपदको प्राप्त

जीवन्मुक्त्यास्पदं नीत्वा नयते मत्स्वरूपताम्।
वर्णधर्म्मे ममैवाथ गौरीदुर्गास्वरूपयोः॥ ७८॥

आदर्शः प्रकटीभूय नारीदेहेषु मानवान्।
विधत्ते नितरां देवाः! कृतकृत्यान्न संशयः॥ ७९॥

एवमाश्रमधर्मेऽपि विद्यारूपधरा ह्यहम्।
प्रादुर्भूय प्रयच्छामि शान्ते मानसमन्दिरे॥ ८०॥

निःश्रेयसं मनुष्येभ्योऽभ्युदयञ्च निरन्तरम्।
जीवन्मुक्ता महात्मानः सन्न्यासाश्रमवर्त्तिनः॥ ८१॥

विश्वमेव स्वरूपं मे ज्ञात्वेति प्रथमं सुराः!।
सद्भावस्य निमज्जन्ति सम्पूर्णासु कलास्वहो॥ ८२॥

विश्वरूपाञ्च मामेव विदित्वा तदनन्तरम्।
कलाषोडशकोपेतं परमानन्दसागरम्॥ ८३॥

नितान्तमवगाहन्ते सायुज्यं यान्ति मे ततः।
मत्सायुज्यदशामेत्य पूर्णं चिद्भावमाश्रिताः॥ ८४॥

कराकर तत्त्वज्ञानी योगीको मेरे स्वरूपको प्राप्त करा देता है। वर्णधर्ममें मेरे ही गौरी और दुर्गाके स्वरूपोंका आदर्श नारीरूपमें प्रकट होकर मनुष्योंको कृतकृत्य करता है, हे देवगण! इसमें सन्देह नहीं॥ ७५-७९॥ इसीप्रकार आश्रम धर्ममें भी मैं ही विद्यारूपसे मनुष्योंके शान्त मानसमंदिरमें प्रकट होकर उनको निरन्तर अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करती हूँ। हे देवगण! सन्यासाश्रममें जीवन्मुक्त महापुरुष प्रथम जगत्को ही मेरा स्वरूप जानकर मेरे सद्भावकी पूर्ण कलाओंमें निमज्जन करता है। तदनन्तर मुझको ही जगद्रूप जानकर षोडशकलापूर्ण परमानन्दसागरमें अवगाहन करता रहता है और अन्तमें मेरी सायुज्य दशाको प्राप्त करके मेरे पूर्ण चिद्भावके आश्रयसे ब्रह्मसायुज्य-

सम्प्राप्य ब्रह्मसायुज्यं कृतकृत्या भवन्ति ते।
स्वकलानां रहस्यम्वै प्रोक्तं गूढ़तमं मया॥ ८५॥
अन्तिके भवतां देवाः! नानावैचित्र्यसंकुलम्।
अतीव यद्धि दुर्ज्ञेयं गुह्याद्गुह्यतरं तथा॥ ८६॥
भवत्स्नेहवशाद्देवाः साम्प्रतं सम्प्रकाशितम्।
एतच्छ्रुत्वा विदित्वा च लप्स्यन्ते साधकाः शिवम्॥ ८७॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवसम्वादे चित्कलाविज्ञानयोग-वर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। हे देवतागण! मैंने अतिगूढ़तम अत्यन्त विचित्रतापूर्ण अपनी कलाओंका रहस्य आपलोगोंके समीप वर्णन किया, जो अत्यन्त दुर्ज्ञेय और अत्यन्त गोपनीय है, हे देवगण! आपके स्नेहसे मैंने इस समय इसका प्रकाश किया है। इसको सुन और जानकर साधक परम कल्याण प्राप्त करेंगे॥ ८०–८७॥

इति श्रीशक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि महादेवी-देवसम्वादात्मक योगशास्त्रका चित्कलाविज्ञानयोग-वर्णननामक द्वितीय अध्याय समाप्त।

वेदकाण्डत्रययोगविज्ञानवर्णनम्।

देवा ऊचुः॥ १॥

वेदमातर्जगन्मातर्महायोगेश्वरेश्वरि ! ।
विज्ञानं ते समाकर्ण्य चित्कलागोचरं ननु॥ २॥
दृष्टिरुन्मीलिताऽस्माकं दिव्या दार्शनिकी द्रुतम्।
साम्प्रतं ते महादेवि ! बाह्याऽभ्यन्तरतो वयम्॥ ३॥
श्रोतुं दिदृक्षयेच्छामो वेदकाण्डत्रयस्य वै।
विज्ञानं दुर्गमं योग-रहस्यं दुर्लभं तथा॥ ४॥
को योगो वेदविज्ञानैस्तत्सम्बन्धश्च कीदृशः।
विस्तराद्वर्णयित्वैतत्कृतकृत्यान् कुरुष्व नः॥ ५॥

महादेव्युवाच॥ ६॥

अस्म्यहं शक्तिरूपेण योगशक्तिः सुरोत्तमाः ! ।
सा कर्म्मोपासनाज्ञान-काण्डत्रयविधानतः॥ ७॥

देवतागण बोले॥ १॥

हे जगन्मातः ! हे वेदजननि ! हे महायोगेश्वरोंकी ईश्वरि ! आपकी चित्कलाका विज्ञान सुनकर हमारे दार्शनिक नेत्र एकाएक खुल गये हैं। अब हम आपको भीतर और बाहर देखनेकी इच्छासे वेदके काण्डत्रयका दुर्गम विज्ञान और योगका दुर्लभ रहस्य सुननेकी इच्छा करते हैं॥२-४॥ योग किसको कहते है ? और वेदविज्ञानके साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? इसको विस्तारसे वर्णन करके हमको कृतकृत्य कीजिये॥ ५॥

महादेवी बोलीं॥ ६॥

हे देवश्रेष्ठगण ! मैं ही शक्तिरूपसे योगशक्ति हूँ। वह योगशक्ति त्रिविध अधिकारभेदसे कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डकेअनुसार

त्रिविधैरधिकारैर्हि योगशक्तिस्त्रिधा मता।
यदेतल्लक्षणं गीतं योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥ ८ ॥
तन्नूनं कर्म्मकाण्डीय-योगलक्षणमीरितम्।
चित्तवृत्तिनिरोधो वै योग एतद्धि लक्षणम् ॥ ९ ॥
विज्ञेयं सर्वथोपास्ति-काण्डयोगस्य निर्ज्जराः।
अज्ञानजनितोपाधिं निःशेषमपनोद्य हि ॥ १० ॥
एकत्वप्रतिपत्तिर्या योगः स्याच्छिवजीवयोः।
अस्त्येतज्ज्ञानकाण्डीय-योगलक्षणमद्भुतम् ॥ ११ ॥
त्रयाणामिह काण्डानामुक्तानामनुरोधतः।
त्रैविध्यं धारणायाश्च जानीत सुरसत्तमाः ! ॥ १२ ॥
भावयन्तः कर्म्मतत्त्वं पराभक्त्यधिकारिणः।
अस्त्येवैतज्जगद्ब्रह्म धारणामीदृशीं मम ॥ १३ ॥
सर्वथा सर्वदा देवाः ! कुर्वते कर्म्मयोगिनः।
मत्पराभक्तिनिष्णाता मद्भक्ता योगिनां वराः ॥ १४ ॥
ब्रह्मैवास्ते जगत्सर्व्वमिति धारणयाऽनिशम्।
महात्मानो निरीक्षन्ते विश्वस्मिन् सुरसत्तमाः ! ॥ १५ ॥

तीनप्रकारकी है। सुकौशलपूर्ण कर्मको योग कहते हैं, यह कर्मकाण्डका लक्षण है; चित्तवृत्तिनिरोध करनेको भी योग कहते है, हे देवतागण ! यह लक्षण सर्वथा उपासनाकाण्डका जानो और अज्ञानजनित उपाधिको निःशेष हटाकर जीवात्मा और परमात्माको एकीकरण करनेको योग कहते है, यह ज्ञानकाण्डका अद्भुत लक्षण है ॥ ७-११ ॥ हे देवश्रेष्ठों ! इसी कारण इन तीनों काण्डोंकेअनुसार मेरी धारणा भी तीनप्रकारकी जानो ॥ १२ ॥ हे देवश्रेष्ठों ! कर्मके तत्त्वदर्शी मेरी पराभक्तिके अधिकारी कर्मयोगीगण "जगत् ही ब्रह्म है" मेरी ऐसी धारणा सर्वदा सर्वथा करते हैं, "ब्रह्म ही जगत् है" ऐसी धारणासे मेरी पराभक्तिमें निष्णात योगिश्रेष्ठ महात्मा भक्तगण

'अहं ब्रह्मास्मि' भो देवाः! इति या धारणाऽस्ति मे।
जीवन्मुक्ता महात्मानस्तदा तां प्राप्तुमीशते ॥ १६ ॥
यदैकत्वं मया सार्द्धं लभन्ते ज्ञानयोगतः।
यः प्रवृत्तिं निवृत्तिञ्च द्वे फले सम्प्रयच्छति ॥ १७ ॥
स द्विधा कर्म्मयोगोऽयं विभक्तोऽस्ति दिवौकसः!।
अन्तर्गं कर्म्मयोगस्य ह्यवस्थाद्वयमेव तत् ॥ १८ ॥
सकामासक्तिबीजेन कर्म्मयोगेन चैकतः।
जायते जगदश्वत्थ-वृक्षो द्वन्द्वात्मकः क्षयी ॥ १९ ॥
यः परीणामशीलोऽपि ददात्यभ्युदयं फलम्।
निष्कामत्वस्वरूपेण बीजेन कर्म्मयोगतः ॥ २० ॥
परमानन्दभावस्य द्योतकोऽनश्वरोऽन्यतः।
जायते मधुरोदर्कः प्रबोधः कल्पपादपः ॥ २१ ॥
यस्मान्निःश्रेयसं देवाः! फलमुत्पद्यतेऽमृतम्।
कर्म्मयोगविभागाभ्यामाभ्यां द्वाभ्यां निरन्तरम् ॥ २२ ॥

अहर्निश इस जगत्‌में मुझे देखते हैं ॥ १३–१५ ॥ "मैं ही ब्रह्म हूं" ऐसी धारणाको जीवन्मुक्त महापुरुष तब प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं, जब ज्ञानयोगसेसे मेरे साथ तदाकारभावको ग्रहण करलेते हैं। जो प्रवृत्ति और निवृत्तिफल देनेवाला कर्म्मयोग है, हे देवतागण! वह दो भागोंमें विभक्त है; दोनों ही अवस्थायें कर्म्मयोगके अन्तर्गत हैं ॥ १६–१८ ॥ एक सकामासक्तिरूपी बीजसे कर्म्मयोगकेद्वारा द्वन्द्वमूलक नाशवान् जगद्रूपी अश्वत्थ वृक्ष उत्पन्न करता है ॥ १९ ॥ जो परिणामी होनेपर भी अभ्युदयरूपी फलको देता है। दूसरा निष्कामभावरूपी बीजसे कर्म्मयोगकेद्वारा परमानन्दभावप्रकाशक अपरिणामी प्रबोधरूपी मधुर कल्पवृक्षको उत्पन्न करता है, हे देवतागण! जिससे निःश्रेयसरूपी अमृत फलकी उत्पत्ति होती है। कर्म्मयोगके इन दो विभागोंसे निरन्तर अभ्युदय और निःश्रेयसरूपी दो फल

द्वे फले फलतो नूनं कैवल्याभ्युदयाविति।
हितं मद्वचनं भूयो देवाः! सर्वैर्निशम्यताम् ॥ २३ ॥
शक्तौ हि कर्म्मयोगस्यानुस्यूता सर्वथा सती।
सकामकर्म्मयोगिभ्यो नूनमभ्युदयं ददे ॥ २४ ॥
निष्कामकर्म्मयोगिभ्यस्तथा निःश्रेयसं पदम्।
बोध्यैषोपनिषत्कर्म्म-काण्डयोगस्य शाश्वती ॥ २५ ॥
प्रवृत्तिमूलकं देवाः! सकामं कर्म्म वर्त्तते।
नानाधिकारभेदेभ्यो बहुशाखासमन्वितम् ॥ २६ ॥
अत एव च पुण्यानां यथाकालमहं हृदि।
ऋषीणां सम्प्रविश्यैव वेदांस्त्रैगुण्यगोचरान् ॥ २७ ॥
प्रकाशयाम्यनेकाभिः शाखाभिः समलङ्कृतान्।
सम्प्रदायविभिन्नत्वमहमाश्रित्य नैकशः ॥ २८ ॥
नानाधिकारिमर्त्येभ्योऽभ्युदयं प्रददेऽमराः!।
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकैव वर्त्तते खलु ॥ २९ ॥

अवश्य प्रकट होते हैं। हे देवतागण! पुनः आपलोग मेरी हितकी बात सुनो ॥ २०-२३ ॥ मैं कर्म्मयोगकी शक्तिमें सर्वथा अनुस्यूत रहकर सकाम कर्म्मयोगीको अभ्युदय और निष्काम कर्म्मयोगीको निःश्रेयस अवश्य प्रदान करती हूं। यही कर्म्मकाण्डयोगकी सनातनी उपनिषत् है ॥२४-२५॥ हे देवतागण! प्रवृत्तिमूलक सकाम कर्म्म नाना अधिकारभेदके कारण अनेक शाखाओंसे युक्त है। इसी कारण मैं समय समय पर पवित्र ऋषियोंके अन्तःकरणमें प्रवेश करके त्रिगुणात्मक वेदोंको अनेक शाखाओंमें प्रकट करती हूं और इसीकारण हे देवतागण! मैं ही धर्म्मके अनेक सम्प्रदाय बनकर विभिन्न अधिकारके मनुष्योंको अदभ्युय प्रदान करती हूं। व्यवसायात्मिका (निष्काम कर्म्मयोगरूपा) बुद्धि एकप्रकारकी ही होती है परन्तु अव्यव-

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।
निवृत्तिमूलकस्त्वेको निष्कामकर्म्मयोगकः ॥ ३० ॥
निर्विकारोऽभयोऽद्वैतो निर्विकल्पोऽस्त्यसंशयम् ।
वासनायाश्चञ्चलत्वं किञ्चिन्नैवात्र विद्यते ॥ ३१ ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ३२ ॥
यद्यप्यस्मि प्रतिष्ठात्री धर्म्मयोरुभयोरहम् ।
प्रवृत्तिमूलकस्याथ निवृत्तिमूलकस्य च ॥ ३३ ॥
मामेव प्राप्नुतो देवाः ! द्विविधौ कर्म्मयोगिनौ ।
पार्थक्यं नापि किञ्चिच्च द्वयोर्बाह्ये प्रतीयते ॥ ३४ ॥
वासनानोदितः कर्म्मी यथैव कुरुतेऽवशः ।
अधिकारो सकामस्य कर्म्मयोगस्य कर्म्म यत् ॥ ३५ ॥
तन्निष्कामव्रतस्नातः कर्म्मयोगी स्वभावतः ।
विधत्ते लोकशिक्षार्थं ज्ञानानुस्यूतमानसः ॥ ३६ ॥

सायियों (सकाम कर्म्मियों) की बुद्धि बहुशाखाओंसे युक्त अनन्त होती हैं। इसलिये निवृत्तिमूलक निष्काम कर्म्मयोग निस्सन्देह एक, अद्वैत, निर्विकार, निर्भय और विकल्परहित है। इसमें वासनाकी चञ्चलता कुछ भी नहीं है ॥ २६–३१ ॥ इसमें अभिक्रमका नाश भी नहीं है और न कोई प्रत्यवायही है, इस धर्म्मका थोड़ा भी अंश महाभयसे रक्षा करता है ॥ ३२ ॥ यद्यपि मैं प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंकी प्रतिष्ठाकी स्थान हूं ॥ ३३ ॥ और हे देवगण ! दोनों श्रेणीके कर्म्मयोगिगण मुझको ही प्राप्त होते हैं और बहिःस्वरूपमें दोनोंकी कुछ भी पृथकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि सकामी अधिकारी जिस कर्म्मको वासनाकी प्रेरणासे अवश होकर करता है, निष्कामव्रतदीक्षित कर्म्मयोगी उसी कर्म्मको स्वाभाविक रूपसे ज्ञानमें अनुस्यूत रहकर लोकशिक्षाकेलिये करता

भावासक्तिपृथग्भावादत्यन्तात्तु द्वयोरहम्।
साधारणविशेषाख्यौ धर्म्मौ संस्थापये क्रमात् ॥ ३७ ॥
नैके विशेषधर्म्मस्य ह्यधिकारा भवन्त्यतः।
नास्ति साधारणे धर्म्मे त्वधिकारविभिन्नता ॥ ३८ ॥
यथा रोचेत वो देवाः! कर्म्मयोगं तथाविधम्।
निःश्रेयसं समाश्रित्याऽभ्युदयं वाप्यवाप्नुत ॥ ३९ ॥
तिस्रो यद्यपि जीवानामस्म्यहं गतयो ध्रुवम्।
कृष्णशुक्ले तथापि स्तः प्रवृत्तिमूलिके गती ॥ ४० ॥
सहजाख्यगतेरस्ति ह्यधिकारस्तु केवलम्।
योगस्थानां सुशान्तानां निष्कामव्रतशालिनाम् ॥ ४१ ॥
सुखानन्दस्वरूपाभ्यामहमेव निरन्तरम्।
निखिलोपासकान् देवाः! कर्म्मयोगे प्रवर्त्तये ॥ ४२ ॥
सुखमेतद्धि जानीत विषयानन्दमूलकम्।
आनन्दो विद्यते नूनं मत्स्वरूपं न संशयः ॥ ४३ ॥

है ॥ ३४-३६ ॥ परन्तु उन अधिकारियोंमें आसक्ति और भावकी अत्यन्त पृथक्ता होनेके कारण मैं उनमें यथाक्रम विशेष और साधारण धर्म्मको स्थापित करती हूं ॥ ३७ ॥ यही कारण है कि, विशेष धर्म्ममें अधिकार अनेक हैं और साधारण धर्म्ममें अधिकार विभिन्नता नहीं है ॥ ३८ ॥ हे देवतागण! आपलोगोंकी जैसी रुचि हो, उसीप्रकारके कर्म्मयोगका आश्रय करके अभ्युदय या निःश्रेयस प्राप्त करें ॥ ३९ ॥ यद्यपि जीवोंकी त्रिविध गति मैं ही हूं तथापि कृष्ण और शुक्लगति प्रवृत्तिधर्म्ममूलक है और सहजगतिके अधिकारी शान्त निष्काम कर्म्मयोगी ही केवल हो सकते हैं ॥४०-४१॥ हे देवगण! मैं ही सुख और आनन्दरूपसे उपासकोंको कर्म्मयोगमें निरन्तर प्रवृत्त कराती हूं ॥ ४२ ॥ सुखको विषयानन्दमूलक जानो और आनन्द

ये ममोपासकास्सन्तो योगिनो मद्विभूतिषु।
मच्छक्तिष्वपि मुह्यन्ति दक्षिणास्सन्ति तेऽपि च ॥ ४४ ॥
मद्विभूतिमनिच्छंस्तु शक्तिमप्यैश्वरीं मम।
योगं साध्नोति यो नित्यं केवलं मदवाप्तये ॥ ४५ ॥
निष्कामयोगनिष्ठोऽसौ ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी भक्ता मे त्रिविधा इमे ॥ ४६ ॥
अध्वनीनाः सकामस्य भक्तियोगस्य सन्ति हि।
चतुर्थो ज्ञानिभक्तस्तु मत्स्वरूपो न संशयः ॥ ४७ ॥
सर्व्वास्वभ्युदयस्यापि बीजेषु योगसिद्धिषु।
मत्सायुज्यदशाप्राप्तौ बाधिकास्ता न साधिकाः ॥ ४८ ॥
पराभक्तेर्विरोधिन्यो विद्यन्तेऽत्यन्तमेव च।
ऐशीनां खलु सिद्धीनां शक्तीनामपि सर्वशः ॥ ४९ ॥
हेतुत्वं वहते प्राप्तेः संयमो विबुधर्षभाः !।
मदवाप्तावेकतत्त्वाभ्यासः कारणतां व्रजेत् ॥ ५० ॥

मेरा ही स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ४३ ॥ मेरे उपासक योगिगण जो मेरी विभूति और शक्तियों मेंही मुग्ध रहते हैं, वे भी उदार हैं ॥४४॥ परन्तु जो मेरी विभूति और ऐशी शक्तियोंकी इच्छा न रख कर केवल मेरी ही प्राप्तिकेलिये योगसाधन नियमित करते हैं, वह निष्काम योगनिष्ठ ज्ञानी मेरी आत्मा ही है। आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी ये तीन प्रकारके मेरे भक्त सकाम भक्तियोगके पथिक हैं और चतुर्थ ज्ञानी नामक भक्त मेरा ही स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ४५-४७ ॥ सब योगसिद्धियां अभ्युदयकी मूल होनेपर भी वे मेरी सायुज्य दशा प्राप्ति करानेमें बाधक है, साधक नहीं हैं ॥ ४८ ॥ और पराभक्तिकी अत्यन्त विरोधिनी हैं। हे देवश्रेष्ठों! ऐशी सिद्धियों और विभिन्न शक्तियोंको प्राप्त करानेमें संयम कारण है और मुझको प्राप्त करानेमें एकतत्त्वा-

योगः स्वरूपतो नूनमष्टाङ्गेषु विभज्यते ।
यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च ॥ ५१ ॥
प्राणायामस्तथा देवाः ! प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरित्यष्टौ योगस्याङ्गानि सन्ति ह ॥ ५२ ॥

एकतत्त्वैकमूलस्सन्नन्यः संयममूलकः ।
अयमष्टाङ्गयोगो हि षोडशाङ्गैः प्रपूर्य्यते ॥ ५३ ॥
मन्त्रो हठो लयो राजयोग एते चतुर्विधाः ।
क्रियासिद्धांशभेदा वै सन्ति योगस्य निर्ज्जराः ॥ ५४ ॥
निरोधश्चित्तवृत्तीनां नामरूपावलम्बनात् ।
साध्यते साधकैर्यत्र मन्त्रयोगः स उच्यते ॥ ५५ ॥
नैकासाश्चैव मूर्त्तीनामध्यात्मभावसंयुजाम् ।
आश्रयाद्ध्यायमाना हि मन्त्रयोगविधानतः ॥ ५६ ॥
मन्त्रयोगपरा धीराः साधका मामुपासते ।
साहाय्यात्स्थूलदेहस्य चित्तवृत्तिनिरोधनम् ॥ ५७ ॥

भ्यास कारण है ॥ ४९-५० ॥ हे देवगण ! योग स्वरूपतः आठ अङ्गोंमें ही विभक्त है, यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि ॥ ५१-५२ ॥ यही अष्टांग योग संयम और एकत्त्वमूलक होकर षोडश अङ्गोंसे पूर्ण होता है ॥ ५२ ॥ हे देवतागण ! योगके क्रियासिद्धांशके चार भेद हैं, यथा-मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग ॥ ५४ ॥ नाम और रूपकी सहायतासे सधकोंकेद्वारा चित्त वृत्तियोंका निरोध जिसमें किया जाता है, उसको मन्त्रयोग कहते हैं ॥ ५५ ॥ विभिन्न अध्यात्मभावयुक्त मूर्त्तियोंकेद्वारा ध्यान करते हुए मन्त्रयोगमें प्रवीण धीर साधकगण मन्त्रयोगकी सहायतासे मेरी उपासना करते हैं। धीर व्यक्तियोंकेद्वारा स्थूल शरीरकी सहायतासे चित्तवृत्तियोंका निरोध जिसमें किया जाता है, उसको हठयोग

यत्र संसाध्यते धीरैर्हठयोगः स ईर्य्यते।
ज्योतिर्मयस्य रूपस्य कल्पितस्यावलम्बनात्॥ ५८॥
ध्यायमानाश्च मां सिद्धिर्लभन्ते हठयोगिनः।
शक्तीर्जडत्वमापन्नाः प्रसुप्तास्ता विबोध्य हि॥ ५९।
समष्टिव्यष्टिशक्तीनां साहाय्याद् यत्र साध्यते।
चित्तवृत्तिनिरोधोऽसौ लययोगो निगद्यते॥ ६०।
साक्षादाध्यात्मिकं बिन्दु-मयं मे रूपमद्भुतम्।
दृष्ट्वा कृतार्थतां यान्ति तत्क्षणं लययोगिनः॥ ६१॥
नित्यानित्यस्वरूपाणां पदार्थानां विवेकतः।
त्रिगुणानां त्रिभावानामपि नित्यं विमर्शतः॥ ६२॥
शक्तिमाध्यात्मिकीं यत्र हितां प्राप्नुवतां स्वतः।
निरोधश्चित्तवृत्तीनां जायते योगिनां सताम्॥ ६३॥
कथितो राजयोगोऽसौ सर्वयोगशिरोमणिः।
पराभक्त्यधिकारं मे भक्ताश्च ज्ञानिनो गताः॥ ६४॥

कहते हैं। हठयोगिगण कल्पित ज्योतिर्मय रूपकी सहायतासे मेरा ध्यान करते हुए सिद्धियोंको लाभ करते हैं। समष्टि और व्यष्टि शक्तियोंकी सहायतासे जडभावप्राप्त प्रसुप्त शक्तियोंको जगाकर चित्तवृत्तिनिरोध करनेको लययोग कहते हैं॥ ५६-६०॥ लययोगी मेरे आध्यात्मिक विन्दुमय अद्भुत रूपका प्रत्यक्ष दर्शन करके उसी समय सफलमनोरथ होते हैं॥ ६१॥ नित्यानित्य-वस्तुविवेक और त्रिगुण तथा त्रिभावोंके सर्वदा विचारद्वारा हितकारिणी आध्यात्मिक शक्ति लाभ करते हुए श्रेष्ठ योगियोंकी चित्तवृत्तियों-का निरोध स्वतः होजानेको राजयोग कहते हैं, जो सब योगोंमें शिरोमणि है। मेरी पराभक्तिके अधिकारी राजयोगी ज्ञानी भक्तगण राजयोगकी सहायतासे मेरे अध्यात्मस्वरूपका साक्षा-

साहाय्याद्राजयोगस्य लभन्ते राजयोगिनः ।
मामाध्यात्मस्वरूपं हि साक्षात्कृत्यान्ततश्च माम् ॥ ६५ ॥
एताश्चतुर्विधा एव प्रोक्ताः साधनरीतयः ।
ममोपास्तेः सदा देवा मूलभित्तय ईरिता ॥ ६६ ॥
चतुर्णाञ्चैव योगानामेतेषां निखिलाः क्रियाः ।
विद्यन्ते विबुधश्रेष्ठाः ! योगाङ्गाष्टकमूलकाः ॥ ६७ ॥
संयमश्चैकतत्त्वञ्च द्वयोः सम्बन्धसंजुषाम् ।
विभेदेन प्रयोगाणामेतद्योगचतुष्टयम् ॥ ६८ ॥
विभर्तुं क्षमते देवाः ! कलाषोडशकं मम ।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो युष्माभिर्देवसत्तमाः ! ॥ ६९ ॥
विकाशो ज्ञानिभक्तेषु कलाषोडशकस्य मे ।
स्वभावसिद्ध एवास्ते ज्ञानिभक्ताः परन्त्वमी ॥ ७० ॥
अनन्यभक्तियोगेन ध्यायन्ते मां सदा ध्रुवम् ।
अतः सदाऽवतिष्ठन्ते वासनारहिता इमे ॥ ७१ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा मद्ध्याना मत्परायणाः ।
मय्यर्पितात्मसर्वस्वा मद्गतात्मधियोऽमलाः ॥ ७२ ॥

त्कार करके अन्तमें मुझको प्राप्त होते हैं ॥ ६२–६५ ॥ हे देवतागण ! येही उक्त चारप्रकारकी साधन शैली सदा मेरी उपासनाकी मूलभित्ति कही गयी है ॥ ६६ ॥ और हे श्रेष्ठ देवगण ! इन चार योगोंकी सब क्रियायेंही अष्टाङ्गयोगमूलक हैं ॥ ६७ ॥ ये चारों योग संयम और एकतत्त्वसे सन्बन्धयुक्त प्रयोगोंके विभेदसे मेरी षोडश कलाओंको धारण कर सकते हैं, हे देवश्रेष्ठों ! आपलोग इसमें कुछ आश्चर्य्य न करें ॥ ६८–५९ ॥ मेरे ज्ञानीभक्तोंमें पूर्ण षोड़श कलाओंका विकाश होना स्वभावसिद्ध है परन्तु वे ज्ञानी भक्त मुझमें अनन्यभक्तियुक्त हो सदा ध्यान करते हैं, अतः वे सदा वासनाओंसे रहित रहते हैं। वे मुझमें अनुरक्त, मद्गतचित्त, मद्गतप्राण; मेरे ध्यानमें तत्पर, मत्प-

अपि मय्यनुरक्ताश्च जायन्ते सर्वदैव ते ।
ज्ञानिनां मम भक्तानां नास्ति भेदो मया सह ॥ ७३ ॥
त एवाहमहो देवाः ! अहमेव च ते मताः ।
नात्र कश्चन सन्देहः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ७४ ॥
जीवभूमेः समारोढुं ब्रह्मभूमिं सुखं सुराः ! ।
अष्टसोपानतुल्यानि योगाङ्गान्यष्ट सन्त्यलम् ॥ ७५ ॥
समाधिरन्तिमं येषामारोहणमुदाहृतम् ।
सोपानमादिमं देवाः ! येषां हि विद्यते यमः ॥ ७६ ॥
स्थूलदेहस्य सम्बन्धाच्छुद्धिराध्यात्मिकी तु या ।
साध्यते साधकैर्देवाः ! आहुस्तं योगिनो यमम् ॥ ७७ ॥
ब्रह्मचर्य्यं बहिः शौचो ह्यहिंसा सत्यमुत्तमम् ।
सर्व्वभूतदयाऽस्तेयं मिताहारोऽपरिग्रहः ॥ ७८ ॥
शारीरिकं तपो देवा दानं तु सात्विकन्तथा ।
प्रधानान्येवमादीनि साधनानि यमस्य हि ॥ ७९ ॥

रायण, मुझमें ही अपना सर्वस्व अर्पित करनेवाले और मुझमें ही अपनी बुद्धि लगाये हुए सर्व्वदा निर्मलचित्त होते हैं। मेरे ज्ञानी-भक्तोंमें और मुझमें भेद नहीं है। हे देवगण ! वे ही मैं और मैं ही वे हूँ। मैं सत्य सत्य कहती हूँ, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ७०-७४ ॥ हे देवतागण ! जीवभूमिसे ब्रह्मभूमिपर सुखपूर्वक चढ़नेकेलिये अष्टांग योगही आठ पौढ़ियाँ हैं ॥ ७५ ॥ हे देवगण ! जिनमें अन्तिम सोपान समाधि और प्रथम सोपान यम है ॥ ७६ ॥ हे देवतागण ! स्थूल शरीर-सम्बन्धसे साधकोंकेद्वारा आध्यात्मिक शुद्धि सम्पादन करनेको योगीलोग यम कहते हैं ॥ ७७ ॥ हे देवगण ! ब्रह्मचर्य्य, बहिःशौच, अहिंसा, सत्य, सब जीवोंपर दया, अस्तेय (चोरी नहीं करना) मिताहार, अपरिग्रह, शारीरिक तप और सात्त्विक दान इत्यादि यमके प्रधान साधन हैं ॥ ७८-७९ ॥ नियम योगका

नियमो योगसोपानं द्वितीयं सम्प्रकीर्तितम् ।
सूक्ष्मदेहाश्रयाद्यैस्तु साधनैः साधकैर्ध्रुवम् ॥ ८० ॥

लभ्यतेऽध्यात्मसंशुद्धिस्तमाहुर्नियमं सुराः ! ।
अन्तःशौचश्च सन्तोषः स्वाध्यायो मानसं तपः ॥ ८१ ॥

आस्तिक्यमार्जवं ह्रीश्च क्षमा चापि धृतिस्तथा ।
देवर्षिपितृभक्तिश्च नियमस्यापि निर्ज्जराः ! ॥ ८२ ॥

प्रधानान्येवमादीनि विद्यन्ते साधनान्यहो ।
तृतीयारोहणं विज्ञा आसनम्परिचक्षते ॥ ८३ ॥

यत्र संस्थापयेदेवं शरीरं सुखपूर्वकम् ।
यतः स्यान्मनसः स्थैर्य्यं वायोश्चापि सुरर्षभाः ! ॥ ८४ ॥

आसनं तद्विजानीत साधनेषु सुखावहम् ।
आसनस्य बहून्भेदान् योगाचार्य्याः प्रचक्षते ॥ ८५ ॥

निखिलास्तेऽवगन्तव्याः पूज्याङ्घ्रेः श्रीगुरोर्मुखात् ।
किञ्चिदत्रापि वक्ष्येऽहं श्रूयतां देवपुङ्गवाः ! ॥ ८६ ॥

दूसरा सोपान कहा गया है। हे देवगण ! सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे आध्यात्मिक-शुद्धि-प्राप्तिके साधनोंको नियम कहते हैं। अन्तःशौच, सन्तोष, स्वाध्याय, मानसिक तप, आस्तिकता, आर्जव, लज्जा, क्षमा, धैर्य्य और देवता ऋषि पितरोंमें भक्ति इत्यादि नियमके प्रधान साधन हैं। विद्वान् लोग आसनको तृतीय सोपान कहते हैं ॥ ८०-८३ ॥ हे देवश्रेष्ठों ! शरीरको इसप्रकार सुखपूर्वक स्थापित किया जाय, जिससे मन और वायुका स्थैर्य्य उत्पन्न हो और जो साधनमें सुखदायी हो, उसको आसन कहते हैं। योगवित् आचार्य्यगण आसनके अनेक भेद बतलाते हैं, उन सबको पूज्यपाद श्रीगुरुदेवके मुखसे जानना चाहिये। मैं यहाँ भी कुछ कहती हूँ, हे देवश्रेष्ठ ! आपलोग सुनें ॥ ८४-८६ ॥

सिद्धं पद्मासनं देवाः! स्वस्तिकासनमेव च।
आसनानि प्रधानानि त्रीण्येतानि निबोधत ॥ ८७ ॥

प्राणायामश्चतुर्थं वै योगारोहणमुत्तमम्।
विधारणेन प्राणानां तथा प्रच्छर्द्दनेन च ॥ ८८ ॥

यद्वशीकरणं नूनं प्राणायामः स उच्यते।
अनेकभेदसत्त्वेऽपि भेदा अष्ट प्रधानतः ॥ ८९ ॥

सहितः सूर्य्यभेदी च तथोज्जायी च शीतली।
भ्रामरी भस्त्रिका मूर्च्छा केवली च सुरर्षभाः ॥ ९० ॥

प्राणायामस्य तत्त्वज्ञैर्योगाचार्य्यैः कृता इति।
एतदुक्तं तु योगस्य यमाद्यङ्गचतुष्टयम् ॥ ९१ ॥

बाह्यराज्यसुसम्बन्धि वर्त्तते विबुधर्षभाः!।
अन्ताराज्यसुसम्बन्धियोगाङ्गान्यधुना ब्रुवे ॥ ९२ ॥

प्रत्याहारं हि जानीत पञ्चमारोहणं सुराः!।
यथा कूर्म्मो निजाङ्गानि स्वस्यैव पृष्ठकोटरे ॥ ९३ ॥

हे देवगण! सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन, ये प्रधानतः आसनके तीन भेद हैं, सो जानो ॥ ८७ ॥ प्राणायाम उत्तम चतुर्थ सोपान है। प्रच्छर्द्दन और विधारणद्वारा प्राणको वशीभूत करनेका नाम प्राणायाम है। हे देवगण! प्राणायामके अनेक भेद होने पर भी योगाचार्य्योंने प्रधानतः उसके आठ भेद किये हैं; यथा—सहित, सूर्य्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भ्रामरी, भस्त्रिका, मूर्च्छा और केवली। योगके पूर्वोक्त यमादि चार अङ्ग बहिर् राज्यसे सम्बन्ध रखने वाले हैं। अब अन्तर राज्यसे सम्बन्ध रखनेवाले चार अङ्गोंका वर्णन करती हूँ ॥ ८८-९२ ॥ हे देवगण! प्रत्याहारको पञ्चम सोपान जानो। कछुआ जिसप्रकार अपने अङ्गोंको अपनी रक्षाके-

प्रत्याहरंति रक्षार्थं तथैव योगिनो वराः ।
अभ्यस्यन्ति समाक्रष्टुं प्रवृत्तिं विषयानुगाम् ॥ ९४ ॥

स्वीयां यद्विषयान्नूनं प्रत्याहारः स उच्यते ।
एनं वदन्ति विद्वांसो योगपङ्कजभास्करम् ॥ ९५ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरर्गलम् ।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारोऽभिधीयते ॥ ९६ ॥

बाह्यालम्बनसाहाय्यात् तथान्तरवलम्बनात् ।
प्रत्याहारो द्विधा प्रोक्तो बाह्याऽभ्यन्तरभेदतः ॥ ९७ ॥

धारणा षष्ठसोपानं योगस्य समुदाहृतम् ।
यदा धृत्या तु भो देवाः ! योगिनो योगयुक्तया ॥ ९८ ॥

चित्तमान्तरिके राज्ये स्वीयं संयमपूर्वकम् ।
प्रतिष्ठापयितुं सम्यगभ्यस्यन्ति निरन्तरम् ॥ ९९ ॥

धारणा सैव विज्ञेया योगाधारस्वरूपिणी ।
धारणायास्तु भेदौ द्वौ व्याहृतौ योगवित्तमैः ॥ १०० ॥

लिये अपने पृष्ठकोटरमें छिपाता है, उसीप्रकार श्रेष्ठ योगिगण अपनी विषयवती प्रवृत्तिको विषयोंसे खींचनेका अभ्यास करते हैं, उसको प्रत्याहार कहते हैं। विषयोंमें अनर्गल रूपसे प्रवृत्त इन्द्रियोंको विषयोंसे हठात् खींचनेका नाम प्रत्याहार है। यह साधन योगपङ्कजकेलिये सूर्य्यरूप है ॥ ९३-९६ ॥ बहिरवलम्बन और अन्तरवलम्बन भेदसे वह प्रत्याहार दोप्रकारका है ॥ ९७ ॥ धारणा षष्ठ सोपान कहा गया है। जब योगी योगयुक्त धृतिद्वारा अपने अन्तःकरणको अन्तर राज्यमें संयमपूर्वक स्थापन करनेका अभ्यास सम्यक्तया निरन्तर करते हैं, तो उसको धारणा कहते हैं। वह योगकी आधारस्वरूप है, श्रेष्ठ योगिगण धारणाके दो भेद कहते हैं ॥ ९८-१०० ॥

विषयालम्बिनी ह्येका त्वपरात्मावलम्बिनी ।
विषयालम्बनाद्देवाः ! जायते या तु धारणा ॥ १०१ ॥
केवलं साधकानां सा भवेत्सिद्धिप्रदायिनी ।
आत्मावलम्बनाद् या तु धारणोत्पद्यतेऽपरा ॥ १०२ ॥
योगयुञ्जानचित्तेभ्यो मुक्तिं सा सम्प्रयच्छति ।
सोपानपुञ्जसत्त्वेऽपि ध्यानदा धारणैव हि ॥ १०३ ॥
सोपानं सप्तमं ध्यानं सर्वस्वं योगिनामिदम् ।
ध्येयमात्राश्रयायाद् यत्तु प्रतिष्ठां लब्धुमात्मनि ॥ १०४ ॥
चित्तस्थैर्य्यं विधीयेत तद्ध्यानमभिधीयते ।
समाधेर्ध्यानमेवेदमेकमात्रन्तु कारणम् ॥ १०५ ॥
ध्यानसिद्धिं विना योगी न कदाचित्कथञ्चन ।
लब्धुमर्हति कुत्रापि कृतार्थत्वं कुतश्चन ॥ १०६ ॥
ध्येयवैचित्र्यतो नूनं ध्यानं ज्ञेयं चतुर्विधम् ।
मन्त्रयोगिगणाः स्थूलध्यानं हि हठयोगिनः ॥ १०७ ॥
ज्योतिर्ध्यानं तथा बिन्दुध्यानन्तु लययोगिनः ।
राजयोगिगणा देवाः ! ब्रह्मध्यानं प्रकुर्वते ॥ १०८ ॥

एक विषयावलम्बिनी और दूसरी आत्मावलम्बिनी धारणा होती है। हे देवतागण ! विषयावलम्बनसे जो धारणा होती है, वह साधकोंको केवल सिद्धिप्रद है और आत्मावलम्बनसे जो दूसरी धारणा होती है, वह योगाभ्यासियोंको मुक्तिप्रद है। अनेक सोपान होनेपर भी धारणाभ्याससे ही ध्यान होता है ॥ १०१–१०३ ॥ योगियोंका सर्वस्व सप्तम सोपानका ध्यान है। आत्मामें प्रतिष्ठालाभ करनेकेलिये जो एकमात्र ध्येयके अवलम्बनसे चित्तका स्थैर्य्य उत्पन्न कियाजाय उसको ध्यान कहते हैं। ध्यान ही समाधिका एकमात्र कारण है ॥ १०४–१०५ ॥ ध्यानसिद्धिके विना योगी कहीं भी किसीप्रकार कदापि कृतकृत्य नहीं हो सकता ॥ १०६ ॥ ध्येयके वैचित्र्यके विचारसे ध्यान चार प्रकारका होता है। मन्त्रयोगी स्थूलध्यान, हठयोगी ज्योतिर्ध्यान, लययोगी विन्दुध्यान और राजयोगिगण ब्रह्मध्यानकेद्वारा अपने

स्वध्येयानां प्रकुर्वाणा ध्यानन्ते विधिपूर्वकम्।
ध्यायमानास्तु मामेव कृतकृत्या भवन्त्यहो॥ १०९॥
समाधिरन्तिमं देवाः! योगारोहणमष्टमम्।
एकतश्चित्तवृत्तीनां निरोधोऽशेषतो भवेत्॥ ११०॥
द्वितीयतस्तु भो देवाः! प्रकाशो द्रष्टुरात्मनः।
यया साधनया नूनं जायते स्वस्वरूपतः॥ १११॥
प्रचक्षते समाधिं तं योगतत्त्वविशारदाः।
सविकल्पः सुपर्वाणः! निर्विकल्पस्तथैव च॥ ११२॥
समाधेर्द्विविधो भेदो भण्यते योगकोविदैः।
पुनरावर्त्तते योगी सविकल्पसमाधितः॥ ११३॥
समाधिः शाश्वतीं मुक्तिं निर्विकल्पस्तु यच्छति।
अतो वदन्ति विद्वांसो योगतत्त्वानुचिन्तकाः॥ ११४॥
निर्बीजं निर्विकल्पन्तु सविकल्पं सबीजकम्।
शुक्लगत्या यया लभ्य उर्द्ध्वलोकव्रजोऽखिलः॥ ११५॥
सैव शुक्ला गतिर्देवा एति तेषामधीनताम्।
सविकल्पसमाधौ ये तस्थिवांसो हि योगिनः॥ ११६॥

अपने ध्येयोंका विधिपूर्वक ध्यान करके मेराही ध्यान करते हुए कृतार्थताको लाभ करते हैं॥ १०७–१०९॥ हे देवगण! समाधि अष्टम और अन्तिम सोपान है। एकओर चित्तवृत्तिका पूर्ण निरोध और दूसरीओर द्रष्टा आत्माका अपने स्वस्वरूपमें प्रकाश जिस साधनकेद्वारा हो योगतत्त्वज्ञ उसको समाधि कहते हैं। समाधिके दो भेद योगिश्रेष्ठ कहते हैं, यथा—सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधिसे योगीकी पुनरावृत्ति होती है परन्तु निर्विकल्प समाधि शाश्वत मुक्ति देनेवाली है। इस कारण यागतत्त्वज्ञ विद्वान् सविकल्पको सबीज और निर्विकल्पको निर्बीज भी कहते हैं। सब ऊद्ध्वर्लोकोंकी प्राप्ति जिस शुक्ल गतिकेद्वारा होती है, वह गति सविकल्प समाधिस्थ योगियोंके अधीन है; परन्तु सहजगति प्राप्त

जीवन्मुक्ताः परा भक्ता ज्ञानिनः सहजां गताः ।
प्रभवन्त्यधिकर्तुं मे समाधिं निर्विकल्पकम् ॥ ११७ ॥
स्वदेहं नीचगेहे ते जह्युर्वा जाह्नवीतटे ।
विभ्रद्देहा विदेहा वा मामेव प्राप्नुवन्ति ते ॥ ११८ ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थैर्योगिराजैः सहास्ति मे ।
काचिद्विभिन्नता नैव सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥ ११९ ॥
संयमश्चैकतत्त्वं च शक्तिद्वयमलौकिकम् ।
पुरो वो वर्णितं देवाः! मया सम्यक्तयाऽनघाः! ॥ १२० ॥
जायते संयमस्तत्र धारणाभूमितो ध्रुवम् ।
ध्यानभूम्यास्तु भो देवाः! एकतत्त्वं प्रजायते ॥ १२१ ॥
त्रयं हि धारणाध्यान-समाधीति क्रियात्मकम् ।
दृश्याश्रयात्प्रयुक्तं सन्निर्ज्जराः! संयमो भवेत् ॥ १२२ ॥
यदा त्वात्मानमुद्दिश्य त्रयमेतत् प्रयुज्यते ।
एकतत्त्वं तदोदेति ह्येषा वैदान्तिकी श्रुतिः ॥ १२३ ॥

जीवन्मुक्त मेरे ज्ञानी भक्त निर्विकल्प समाधिके अधिकारी होते हैं ॥ ११०-११७ ॥ वे चाहे नीचोंके गृहमें शरीर त्याग करें अथवा गङ्गाके तटपर शरीर त्याग करें, वे शरीर रहते भी मुझको प्राप्त हैं और शरीर त्याग करनेपर भी मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ ११८ ॥ निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगिराजोंमें और मुझमें कोई भेद नहीं है, इसको मैं तुमसे सत्य कहती हूँ ॥ ११९ ॥ हे निष्पाप देवगण! मैंने जो पहले संयम और एकतत्त्वरूपी अलौकिक दो शक्तियोंका वर्णन तुमसे सम्यक्तया किया है ॥ १२० ॥ हे देवगण! उनमें संयम धारणाभूमिसे और एकतत्त्व ध्यानभूमिसे निश्चय प्रकट होता है ॥१२१॥ धारणा ध्यान और समाधि इन तीनोंकी क्रियायें जब इस दृश्यके अवलम्बनसे प्रयुक्त होती हैं, तब उसको संयम कहते हैं और जब केवल आत्मा-के लक्ष्यसे प्रयुक्त होती हैं, तब एकतत्त्वका उदय होता हैं; यही

प्रोद्बोधयति जीवेषु नानाशक्तीर्हि संयमः ।
ऐशीर्नैवात्र सन्देहो नाऽलं मोचयितुं त्वसौ ॥ १२४ ॥

अविद्यापाशसन्नद्धाञ्जीवांस्तान् पाशबन्धनात् ।
एकतत्त्वन्तु शक्नोति भक्तान् दृश्यप्रपञ्चतः ॥ १२५ ॥

हठादाकृष्य तेभ्यो हि शिवत्वं दातुमद्भुतम् ।
साधनं संयमोपेतं योगस्याभ्युदयप्रदम् ॥ १२६ ॥

केवलं त्वेकतत्त्वस्य साहाय्यात् साध्यते तु यत् ।
साधनं तद्धि योगस्य निःश्रेयसकरं ध्रुवम् ॥ १२७ ॥

एतदेवास्ति योगस्य रहस्यं श्रुतिमूलकम् ।
योगस्य साधकानां हि तत्त्वज्ञानप्रकाशकम् ॥ १२८ ॥

मद्भक्तिरस्ति योगस्य प्राणभूता यतस्त्वतः ।
वैयर्थ्यापत्तिमादत्ते नूनं मद्भक्तिमन्तरा ॥ १२९ ॥

शिलाबीजोप्तिवद्देवाः ! निखिलं योगसाधनम् ।
क्रियासिद्धांशबोधा हि येषां योगस्य केवलम् ॥ १३० ॥

उपनिषद्का रहस्य है ॥ १२२–१२३ ॥ संयम अनन्त ऐसी शक्तियोंको जीवोंमें प्रकट करता है, यह निःसन्देह है परन्तु अविद्या-पाशबद्ध जीवोंको पाशमुक्त नहीं कर सकता है और एकतत्त्व मेरे भक्तोंको दृश्य प्रपञ्चसे हटाकर उनको अद्भुत शिवत्व प्रदान करनेमें समर्थ है। संयमसे युक्त योगसाधन अभ्युदयकारी है और केवल एकतत्त्वकी सहायतासे साधित योगही निःश्रेयसकारी हो सकता है ॥१२४–१२७॥ यही श्रुति मूलक और साधकोंकेलिये योगके तत्त्वोंको प्रकाश करनेवाला योगका रहस्य है ॥ १२८ ॥ हे देवगण ! मेरी भक्ति योगसाधनकी प्राणभूता है, क्योंकि विना मेरी भक्तिके सम्पूर्ण योगसाधन शिलामें बीजवपनकी तरह अवश्य ही व्यर्थ होता है। मुझमें अनुरागविहीन, तत्त्वज्ञानहीन और यथार्थतः नहीं केवल वाचनिक रूपसे

सन्ति वाचनिका एव न यथार्थतया सुराः!।
तत्त्वज्ञानविहीनास्तेऽनुरागवर्जिता मयि ॥ १३१ ॥
ज्ञेया अभिनये नूनं शैलूषा इव सन्ततम्।
गौणीपरेतिभेदाभ्यां भक्तिर्मे द्विविधा मता ॥ १३२ ॥
विधिभिः साध्यते गौणी त्वासक्त्या च प्रवर्द्धते।
मद्दयादृष्टिपातेन पराभक्तिस्तु साधके ॥ १३३ ॥
स्वत उत्पद्यते देवाः! आत्मज्ञानप्रकाशिनी।
भावैर्विवर्द्धते सा हि परमानन्ददायिनी ॥ १३४ ॥
योगिन्युदेत्यसौ गौणी भक्तिः संयमतत्परे।
क्षिप्रं तथा परोदेति ह्येकतत्त्वपरायणे ॥ १३५ ॥
एतद्भक्तिरहस्यं वो वर्णितं सम्मुखे सुराः।
ज्ञाने परिसमाप्यन्ते साधनान्यखिलानि मे ॥ १३६ ॥
अतएव च भो देवाः! कर्म्मवीरशिरोमणिम्।
कर्त्तव्यनिष्ठमूर्द्धन्यं निष्कामव्रततत्परम् ॥ १३७ ॥
नृसिंहं तं महात्मानं ज्ञानिभक्तं स्वतोऽमराः!।

योगके क्रियासिद्धांशोंको जाननेवाले नाटकमें वेशधारी नटके समान हैं, ऐसा सदा समझो। मेरी भक्तिके दो भेद हैं—गौणी और परा। ॥ १२९–१३२ ॥ गौणी भक्ति विधिसाध्यमाना है तथा आसक्तिसे वर्द्धित होती है और पराभक्ति मेरी कृपासे ही साधकमें स्वतः उत्पन्न होती है। हे देवगण! वह आत्मज्ञानप्रकाशिनी और परमानन्ददायिनी है और भावसे वर्द्धित होती है ॥ १३३-१३४ ॥ संयमपरायण योगीमें गौणी भक्ति और एकतत्त्वपरायण योगीमें पराभक्तिका शीघ्र उदय हुआ करता है ॥ १३५ ॥ हे देवगण! आपके सामने मैंने यह भक्तिका रहस्य वर्णन किया है। ज्ञानमें सब साधनोंकी परिसमाप्ति होती है ॥ १३६ ॥ इसी कारण हे देवगण! निष्कामव्रतपरायण कर्त्तव्यनिष्ठोंमें श्रेष्ठ उस नृसिंह कर्म्मवीरोंमें श्रेष्ठ ज्ञानभक्ति महात्माको मैं स्वतः

पूर्णं भक्तिरसैस्तूर्णं पीयूषं पाययाम्यहम् ॥ १३८ ॥
तत्त्वज्ञानेन मद्भक्तो मत्स्वरूपं यथार्थतः ।
ज्ञात्वा सम्यक् ततो देवाः ! अधिगच्छति मामहो ॥ १३९ ॥
अस्म्यहं कर्म्मयोगस्य मद्भक्तिज्ञानयोगयोः ।
प्रतिष्ठास्थानमेवैकं सत्यमेतन्न संशयः ॥ १४० ॥
वेदकाण्डत्रयस्यैतद् रहस्य मुपवर्णितम् ।
ब्रह्मानन्दं निजं नूनमविद्यारूपतः सुराः ! ॥ १४१ ॥
विस्तार्य्य विषयानन्दे तत्र जीवान्निरन्तरम् ।
आबध्नाम्यहमेवालं तान् विद्यारूपतः पुनः ॥ १४२ ॥
अज्ञानमूलकद्वैतभावोत्पन्नं हि बन्धनम् ।
विच्छिद्योन्मज्जये चापि ब्रह्मानन्दे निमज्जये ॥ १४३ ॥
केवलं ज्ञानयोगेन पाशमज्ञानमूलकम् ।
जीवः शिवत्वमासाद्योच्छेत्तुं पारयते ध्रुवम् ॥ १४४ ॥
विद्यारूपन्तु बिभ्राणाऽऽनेतु च प्रयते सुखम् ।
स्वाभिमुख्यमहं देवाः ! अधिकारप्रभेदतः ॥ १४५ ॥

ही भक्तिरसपूर्ण अमृतका शीघ्र पान कराती हूँ ॥ १३७–१३८ ॥ मेरा भक्त तत्त्वज्ञानद्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपको अच्छीतरह जानकर तब मुझको प्राप्त होता है ॥ १२९ ॥ कर्म्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग इन तीनोंका प्रतिष्ठान मैं ही हूँ, यह सत्य है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १४० ॥ यही वेदकाण्डत्रयका रहस्य वर्णन किया गया है। हे देवगण ! मैं ही अविद्यारूपसे अपने ब्रह्मानन्दको विषयानन्दमें विस्तार करके उसमें जीवोंको निरन्तर आबद्ध करती हूँ और पुनः मैं ही विद्यारूपसे अज्ञानमूलक द्वैतभावसे उत्पन्न बन्धनको काटकर जीवोंको ब्रह्मानन्दमें उन्मज्जन-निमज्जन कराती हूँ ॥ १४१–१४३ ॥ केवल ज्ञानयोगकेद्वारा ही जीव शिवत्व प्राप्त करके अपने अज्ञानमूलक बन्धनको काटनेमें समर्थ होता है ॥ १४४ ॥ मैं ही विद्यारूप धारण करके अधिकारभेदकेअनुसार ज्ञानिभक्तोंको विभिन्न मार्ग

विभिन्नमार्गतो नूनं स्वभक्तान् ज्ञानयोगिनः।
अधिकारद्वयं देवाः! वर्ण्यते वोऽन्तिकेऽधुना॥ १४६॥
ज्ञानयोगस्य तद्यूयं शृणुयात समाहिताः।
पूर्वं पश्यन्ति मच्छक्तिं तत्त्वज्ञा ज्ञानयोगिनः॥ १४७॥
त्रिविधेषु च रूपेषु तथा सप्तविधेषु च।
परञ्च तेषु ते देवाः! सज्जन्ते नैव कर्हिचित्॥ १४८॥
मां त्रिभावानुसारेणाऽनुभवन्तौ हि तेऽसकृत्।
क्षिप्रमभ्युदयं देवाः! अधिकुर्वन्ति सर्वथा॥ १४९॥
लोकसप्तमपर्य्यन्तं तेषामूर्द्ध्वगतिर्भवेत्।
पुनरावृत्तिसन्देह-सत्त्वेऽपि विबुधर्षभाः!॥ १५०॥
नैवास्ति पतनाद्भीतिस्तेषां भाग्यवतां ततः।
श्रेष्ठाधिकारसम्पन्नास्ततोऽन्ये ज्ञानयोगिनः॥ १५१॥
सच्चिदानन्दरूपं मेऽखण्डं विभु च निर्म्मलम्।
निर्विकारं सदा पूर्णमद्वितीयस्वरूपकम्॥ १५२॥

द्वारा सुखपूर्वक अपनीओर आकृष्ट करनेका यत्न करती हूँ। हे देवगण! ज्ञानयोगके दो अधिकारोंका वर्णन तुम्हारे सम्मुख करती हूँ, उनको सावधान होकर सुनो। प्रथम तत्त्वज्ञानी योगी मेरी शक्तिको त्रिविध और सप्तविधरूपमें देखते हैं परन्तु हे देवगण! उन रूपोंमें वे कभी फंसते नहीं हैं॥ १४५-१४८॥ मुझे त्रिभावकेअनुसार वारंवार अनुभव करते हुए सर्व्वथा अभ्युदयके अधिकारी शीघ्र होते हैं॥ १४९॥ उन ज्ञानयोगियों की ऊद्‌र्ध्व गति सप्तमलोक पर्यन्त होसकती है। हे देवश्रेष्ठो! वहाँसे पुनरावृत्तिकी आशङ्का होनेपरभी उन भाग्यवानोंका पतनभय असम्भव है। श्रेष्ठ अधिकारके ज्ञानयोगी मेरे सच्चिदानन्दमय, अखण्ड, निर्मल, विभु, सदापूर्ण, निर्विकार और अद्वितीय स्वरूपका दर्शन करके उसीमें साक्षात्

दृष्ट्वा साक्षाल्लयं प्राप्ता कैवल्यमाप्नुवन्ति ह ।
एतद्दशाद्वयं नूनं वदन्ति हि यथाक्रमम् ॥ १५३ ॥
उच्चैः परोक्षाऽपरोक्षाऽनुभूतीति विपश्चितः ।
श्रौतं त्रैकाण्डिकं योग-रहस्यं ह्येतदीरितम् ॥ १५४ ॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
महादेवीदेवसम्वादे वेदकाण्डत्रययोगविज्ञान-
वर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः ।

रूपसे लय होकर निःश्रेयसको प्राप्त होते हैं । विद्वद्गण इनही दो दशाओं को यथाक्रम परोक्षानुभूति और अपरोक्षानुभूति भी उच्चस्वरसे कहते हैं । मैंने यह वैदिक काण्डत्रययोगका रहस्य वर्णन किया है ॥१५०-१५४॥

इति श्रीशक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रका
महादेवीदेवसम्वादात्मक वेदकाण्डत्रययोगविज्ञान-
वर्णन नामक तृतीय अध्याय समाप्त ।

मन्त्रशक्तिविज्ञानयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

वेदमातर्जगन्मातर्देवि ! प्रणवरूपिणि ! ।
श्रौतत्रैकाण्डिकज्ञानमपूर्वं तत्समन्वयम् ॥ २ ॥
क्रियासिद्धांशयोगस्य स्वरूपञ्च महाद्भुतम् ।
विदित्वा त्वन्मुखाम्भोजाज्जाता निःसंशया वयम् ॥ ३ ॥
श्रुतवन्तो वयं मातर्वेदा मन्त्रस्वरूपिणः ।
सन्ति तत्र भवत्याश्च निहिताः शक्तयो ध्रुवम् ॥ ४ ॥
मन्त्रसिद्ध्याऽखिलं कार्य्यमतः सर्वत्र सिध्यति ।
विश्वस्मिन्नास्ति तत्कार्य्यं सिध्येद् यन्नैव मन्त्रतः ॥ ५ ॥
मन्त्रा अभ्युदयं सर्वं पारलौकिकमैहिकम् ।
अपि निःश्रेयसं दातुमीशते नितरामिति ॥ ६ ॥
अम्बाऽतो मन्त्रविज्ञानरहस्यं हितमुत्तमम् ।
वर्णयित्वा महादेवि ! कृतकृत्यान् कुरुष्व नः ॥ ७ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे जगन्मातः ! हे वेदजननी । हे प्रणवरूपिणी ! हे देवी ! वेदके तीनों काण्डोंका विज्ञान, वेदकाण्डत्रयका अपूर्व समन्वय और उनके क्रियासिद्धांशका योगसम्बन्धीय परम अद्भुत स्वरूप आपके मुख कमलसे जानकर हमलोग सन्देह रहित हो गये हैं ॥ २-३ ॥ हे मातः ! हमने सुना है कि, श्रुतियाँ मन्त्ररूप हैं और हमने यह भी सुना है कि, मन्त्रमें आपकी शक्ति निहित रहनेके कारण मन्त्रसिद्धिसे सर्वत्र सब काम सिद्ध होते हैं । ऐसे कोई कार्य्य जगत्‌में नहीं हैं, जो मन्त्रसे सिद्ध नहीं हो सकते हों ॥ ४-५ ॥ मन्त्र इहलौकिक अभ्युदय, पारलौकिक अभ्युदय ओर निःश्रेयस सब कुछ भी प्रदान कर सकते हैं ॥६॥ अतः हे माँ ! हे महादेवि ! मन्त्रविज्ञानका हितकारक उत्तम रहस्य वर्णन करके हमको कृतकृत्य कीजिये ॥ ७ ॥

महादेव्युवाच ॥ ८ ॥

अहमेवास्म्यहो देवाः ! मन्त्रशक्तिर्न संशयः ।
मम शक्तिर्यतो विश्वमश्नुते सचराचरम् ॥ ९ ॥
अस्म्यहं कारणब्रह्म कार्य्यब्रह्मास्मि चाप्यहम् ।
अहमेवेश्वरी भूत्वा द्वयोः सम्बन्धमादधे ॥ १० ॥
निर्गुणस्य स्वरूपस्य प्रणवो वाचकोऽस्ति मे ।
महावाक्यसमूहाश्च सन्ति तस्यैव वाचकाः ॥ ११ ॥
बीजमन्त्रास्तु ये विज्ञाः ! शाखापल्लवितास्तथा ।
मन्त्रा नानाविधास्सन्ति निगमागमगोचराः ॥ १२ ॥
सगुणस्य स्वरूपस्य ते सर्व्वे वाचका मम ।
नात्र सन्देहलेशोऽपि विद्यते विबुधर्षभाः ! ॥ १३ ॥
नास्ति भेदो यतो देवाः ! वाच्यवाचकयोरतः ।
सर्वेषां खलु मन्त्राणां नास्ति भेदो मया सह ॥ १४ ॥
अस्त्येका मे क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिस्तथाऽपरा ।
आभ्यां द्विधा विभक्तास्ति मच्छक्तिर्वै प्रधानतः ॥ १५ ॥

महादेवी बोली ॥ ८ ॥

हे देवतागण ! मन्त्रशक्ति मैं ही हूँ, यह निश्चय है क्योंकि मेरी शक्ति चराचर विश्वमें व्याप्त है ॥ ९ ॥ मैं ही कारणब्रह्म हूँ और कार्य्यब्रह्म भी मैं ही हूँ और मैं ही ईश्वररूपिणी होकर दोनोंका सम्बन्ध स्थापित करती हूँ ॥१०॥ प्रणव और महावाक्य समूह मेरे निर्गुण स्वरूपके वाचक हैं ॥११॥ हे विज्ञो ! हे देवश्रेष्ठो ! बीजमन्त्र तथा शाखापल्लवित नाना-प्रकारके वैदिक या अन्यशास्त्रीय मन्त्रसमूह मेरे सगुणस्वरूपके वाचक हैं, इसमें कुछ भी सन्देहका लेश नहीं है ॥१२-१३॥ हे देवगण ! वाच्य और वाचकमें भेद नहीं होता है इसलिये मुझमें और इन सब मन्त्रोंमें निश्चय ही भेद नहीं है ॥१४॥ मेरी शक्ति प्रधानतः दो भागोमें विभक्त

मत्कारणस्वरूपे हि नित्यमेवावतिष्ठते।
नित्या शुद्धा सदा पूर्णा ज्ञानशक्तिर्न संशयः॥ १६॥
द्वितीया या क्रियाशक्तिर्विद्यते मे सुरर्षभाः!।
सैव प्रपञ्चरूपैतत्कार्य्यब्रह्मजनन्यहो॥ १७॥
ज्ञानशक्तेरतो ह्यस्ति प्रणवो बीजमद्भुतम्।
बीजमन्त्रास्तथा नाना क्रियाशक्तेर्न संशयः॥ १८॥
कार्य्यं यत्र किमप्यास्तेऽवश्यं स्यात्तत्र कम्पनम्।
कम्पनश्चापि यत्रास्ति तत्र शब्दो भवेद्ध्रुवम्॥ १९॥
ज्ञानं यथैव यत्रास्ते भावस्तत्रास्त्यसंशयम्।
यत्र भावो भवेन्नूनं तत्र रूपं न संशयः॥ २०॥
अस्त्वेतत्पुनराचक्षे श्रूयतां सुसमाहितैः।
यथा स्यान्मन्त्रविज्ञानं सम्यग् वो बुद्धिगोचरम्॥ २१॥
भावैराध्यात्मिकैर्युक्तै रूपैर्नानाविधैरहम्।
बिभ्राणा विग्रहान्नाना शब्दैर्नानाविधैस्तथा॥ २२॥

है, एक ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति है॥ १५॥ ज्ञानशक्ति मेरे कारणस्वरूपमें नित्य शुद्ध और सदा पूर्णरूपसे सर्वदैव निःसन्देह अवस्थित है॥ १६॥ मेरी क्रियाशक्ति ही, जो दूसरी है, हे देवगण! इस प्रपञ्चमय कार्य्यब्रह्मकी जननी अर्थात् उत्पन्न करनेवाली है॥ १७॥ अतः ज्ञानशक्तिका अद्भुत बीज प्रणव है और नाना बीजमन्त्र क्रियाशक्तिके बीज हैं, इसमें सन्देह नहीं॥ १८॥ जहाँ कोई कार्य्य है, वहां कम्पन अवश्य है और जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द अवश्य है; उसी प्रकार जहाँ ज्ञान है, वहाँ निःसन्देह भाव है और जहाँ भाव है, वहाँ रूप भी अवश्य है॥१९-२०॥ अस्तु, मैं इसको पुनः कहती हूँ—सावधान होकर सुनो, जिससे मन्त्रका विज्ञान आपलोगोंकी भलीभाँति समझमें आजाय॥ २१॥ मैं आध्यात्मिक-भावयुक्त नानारूपोंसे नानाविग्रहों-को धारण करती हुई और अधिदैव सम्बन्धयुक्त नानाशब्दोंसे

अधिदैवत्वसम्प्राप्तै नानामन्त्रस्वरूपिणी।
ददाम्यभ्युदयं शश्वत् तथा निःश्रेयसं ध्रुवम्॥ २३॥
प्रणवो निर्गुणानाम्वै मन्त्राणामादिमोऽस्त्यतः।
आस्ते प्रणवमाहात्म्यं सर्वमूर्द्धन्यताङ्गतम्॥ २४॥
अतो हि सच्चिदानन्दस्वरूपोद्भावको मम।
प्रणवो मन्त्रराजोऽस्ति मन्त्राणां सेतुरेव च॥ २५॥
तथा नानाविधोपास्तेर्वीजमन्त्रा अनेकधा।
स्वोपासनाधिकारेषु सर्वश्रेष्ठा न संशयः॥ २६॥
अतोऽधिदैवशब्दानां वैभवद्योतका मम।
सगुणेष्वपि मन्त्रेषु बीजमन्त्रा खलूत्तमाः॥ २७॥
उत्पद्यन्ते यथा वीजाद्वृक्षाः पञ्चाङ्गसंयुताः।
सम्बन्धो बीजमन्त्राणां मन्त्रैर्ज्ञेयस्तथाऽखिलैः॥ २८॥
ब्रह्ममन्त्रेषु सर्व्वेषु गायत्री प्रणवान्विता।
पूर्णा पञ्चभिरस्त्यङ्गैरतोऽसौ मुक्तिदायिनी॥ २९॥

नाना मन्त्ररूपिणी होकर अभ्युदय और निःश्रेयस सर्वदा अवश्य प्रदान किया करती हूँ॥ २२-२३॥ प्रणव निर्गुण मन्त्रोंका आदि है, इसलिये प्रणवका माहात्म्य सर्वोपरि है और इसीकारण सच्चिदानन्द स्वरूपका परिचायक प्रणव, सब मन्त्रोंका राजा तथा सब मन्त्र-शक्तियोंका सेतु है॥ २४-२५॥ उसीप्रकार नाना उपासनाओंके अनेक बीजमन्त्र उन २ उपासनाओंके अधिकारमें सर्वश्रेष्ठ हैं, यह निःसन्देह है॥ २६॥ इसकारण अधिदैव शब्दोंके सामर्थ्य-परिचायक बीजमन्त्र सगुणमन्त्रमें अति उत्तम हैं॥ २७॥ जैसे बीजसे पञ्चाङ्ग युक्त वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अन्य सब मन्त्रोंकेसाथ बीज मन्त्रोंका सम्बन्ध जानना उचित है॥ २८॥ सम्पूर्ण ब्रह्ममन्त्रोंमें प्रणवयुक्त गायत्रीमन्त्र पञ्चाङ्गोंसे पूर्ण है। इसीकारण यह मुक्तिदायिनी है॥ २९॥

अतश्च ब्रह्मतेजांसि गायत्र्याराधनं विना।
भवेयुर्ब्राह्मणानां न रक्षितानि कदाचन ॥ ३० ॥
निःश्रेयसाप्तये नूनं गायत्री प्रणवान्विता।
शुभदा च सुदक्षाऽस्ति श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ३१ ॥
अनेके सगुणा मन्त्रा नानाबीजसमन्विताः।
नानासिद्धिप्रदास्सन्ति नैकधाभ्युदयाप्तये ॥ ३२ ॥
मुख्यतो बीजमन्त्राणां भेदा अष्टौ प्रकीर्त्तिताः।
सामान्यतस्तु तद्भेदा अनेके सन्त्यनेकधा ॥ ३३ ॥
सत्यं वो वच्म्यहं देवाः! प्रणवस्य गतिः खलु।
उच्चैः सप्तोर्द्ध्वलोकेभ्यस्तथास्ते पञ्चकोषतः ॥ ३४ ॥
गतिश्च बीजमन्त्राणां षष्ठलोकावधि ध्रुवम्।
किन्तु ते प्रणवोपेताः कैवल्याभ्युदयप्रदाः ॥ ३५ ॥
सामान्यतो हि मन्त्राणां संज्ञे द्वे समुदाहृते।
एका च शस्त्ररूपाऽस्ति द्वितीयाऽस्त्रस्वरूपिणी ॥ ३६ ॥

लिये गायत्रीकी आराधनाकेविना ब्राह्मणोंका ब्रह्मतेज सुरक्षित कदापि नहीं रह सकता ॥ ३० ॥ निःश्रेयस प्राप्तिकेलिये प्रणवयुक्त गायत्रीमन्त्र परमदक्ष और मंगलकर है, यही सनातन श्रुति है ॥ ३१ ॥ नानाप्रकारकी अभ्युदयप्राप्तिकेलिये नाना बीजयुक्त नाना सगुण मन्त्र नानाप्रकारकी सिद्धि देनेवाले हैं ॥ ३२ ॥ यों तो बीजमन्त्रोंके अनेकप्रकारके अनेक भेद हैं परन्तु प्रधानतः बीजमन्त्रके आठ भेद हैं ॥ ३३ ॥ हे देवगण! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ कि, प्रणवकी गति पञ्चकोष और सप्त उर्द्ध्व-लोकसे भी परे तक है ॥ ३४ ॥ परन्तु बीजमन्त्रोंकी गति षष्ठलोक-पर्य्यन्त है; तथापि प्रणवयुक्त बीजमन्त्र अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंके देनेवाले हैं ॥ ३५ ॥ मन्त्रोंकी साधारणतः दो संज्ञा होती है; एक शस्त्र और दूसरा अस्त्र ॥ ३६ ॥ प्रयोगके भेदसे ही ये दो भेद

एतद्भेदद्वयं जातं प्रयोगस्य प्रभेदतः ।
देवसान्निध्यसम्प्राप्तिर्नूनमेकेन जायते ॥ ३७ ॥
आधिदैविककार्यस्य साधनेऽन्येन सत्वरम् ।
सौकर्य्यमुपजायेत नियमोऽयं सनातनः ॥ ३८ ॥
हेतुत्वं वहते नूनं भेदयोरनयोर्द्वयोः ।
साकाम्यञ्चापि नैष्काम्यं साधकानां सुरोत्तमाः ! ॥ ३९ ॥
मन्त्रशक्त्यैव भो देवाः ! पितरस्समुपस्थिताः ।
अन्नैः श्राद्धे स्वधाकारे दत्तैस्तृप्यन्ति मानवैः ॥ ४० ॥
यूयञ्च मन्त्रशक्त्यैव प्रोद्युङ्ग्ध्वे सततं सुराः ।
यज्ञसम्वर्द्धिताः सन्तो विधातुं विश्वमङ्गलम् ॥ ४१ ॥
ऋषयो ब्रह्मयज्ञैश्च भवन्तो देवयज्ञतः ।
सम्वर्द्धिताः परं श्रेयो लभन्ते प्रापयन्ति च ॥ ४२ ॥
प्रयुज्यन्ते यदा मन्त्राः सहैव कर्म्मणा तदा ।
ददत्यूर्द्ध्वगतिं नूनं कर्म्मिभ्यो नात्र संशयः ॥ ४३ ॥
यदा मन्त्राः प्रयुज्यन्ते मद्भक्तिसहितास्त्वहो ।
नयन्ति मम सान्निध्यं तदा भक्तान् हि मत्प्रियान् ॥ ४४ ॥

उत्पन्न हुए हैं। एककेद्वारा देवताओंकी सान्निध्यप्राप्ति और दूसरेके-द्वारा अधिदैव कार्य्य करानेमें शीघ्र सुगमता होती है, यह नियम सनातन है ॥३७-३८॥ हे देवश्रेष्ठो! इन दोनों भेदोंमें भी साधकोंकी सकामता तथा निष्कामताही कारण है ॥३९॥ हे देवगण! मन्त्रके ही बलसे पितृगण समुपस्थित होकर स्वधाकार श्रद्धामें मनुष्योंकेद्वारा दिये अन्नोंसे तृप्ति प्राप्त करते हैं ॥ ४० ॥ हे देवगण! मन्त्रहीकी शक्तिद्वारा तुमलोग यज्ञसे सम्वर्द्धित होकर जगत्‌के कल्याणमें सदा तत्पर होते हो ॥ ४१ ॥ मन्त्रकी शक्तिद्वारा ब्रह्मयज्ञोंसे ऋषिगण और देवयज्ञोंसे आपलोग सम्वर्द्धित होकर परस्पर परमश्रेय लाभ करते हो और कराते हो ॥ ४२ ॥ मन्त्र जब कर्मकेसाथ प्रयुक्त होते हैं, तब कर्म्मियोंको अवश्य ऊर्ध्वगति प्रदान करते हैं, इसमें सन्देह नहीं और जब मन्त्र मेरी भक्तिके साथ प्रयुक्त होते हैं, तब मेरे प्रिय भक्तोंको मेरा सान्निध्य

यदा मन्त्रास्तु चैतन्यमाप्नुवन्तो दिवौकसः ! ।
सहोपास्यस्वरूपैर्हि यान्ति तादात्म्यमद्भुतम् ॥ ४५ ॥
तदैव मन्त्ररूपाभ्यां साद्धं चित्तं विलीयते ।
मन्त्रा एव प्रयच्छन्ति तदा निःश्रेयसं पदम् ॥ ४६ ॥
सर्व्वे ते ब्रह्ममन्त्रौघाः प्रत्यक्षं मुक्तिदायकाः ।
मन्त्रार्थानां यतो मन्त्रैः साद्धं साक्षात्तदात्मता ॥ ४७ ॥
साहाय्याद्ब्रह्ममन्त्राणां जीवान्तःकरणं ध्रुवम् ।
ब्रह्मसायुज्यमाप्नोति स्वरूपं प्राप्य निर्मलम् ॥ ४८ ॥
ब्रह्ममन्त्रेषु मूर्द्धन्यो मन्त्रोऽस्त्योंतत्सदात्मकः ।
अतो मे ज्ञानिनो भक्ताः सर्वकर्म्मफलं मयि ॥ ४९ ॥
क्षमन्तेऽर्पयितुं सम्यङ्-मन्त्रेणानेन निर्ज्जराः ! ।
ममोपास्तिक्षणे नूनं सान्निध्यञ्चाप्तुमीशते ॥ ५० ॥
सर्वत्र सर्वदा ज्ञान-दृष्ट्या च सर्वथा मयि ।
युञ्जानाः स्थातुमात्मानं क्षमन्ते मत्परायणाः ॥ ५१ ॥

प्राप्त करते हैं ॥ ४३-४४ ॥ और हे देवगण ! जब मन्त्र चैतन्यको प्राप्त होकर उपास्यरूपकेसाथ एकाकारभावमें परिणत हो जाते हैं, तो उस समय मन्त्र और रूपकेसाथ मनका विलय आपसे आप हो जाता है तब मन्त्र ही निःश्रेयस पद प्रदान करते हैं ॥ ४५-४६ ॥ ब्रह्ममन्त्रसमूह प्रत्यक्ष मुक्तिप्रद हैं क्योंकि मन्त्रसे मन्त्रार्थका साक्षात् तादात्म्य है। ब्रह्ममन्त्रकी सहायतासे जीवका अन्तःकरण निर्मल स्वस्वरूपको प्राप्त करके ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करता है ॥ ४७-४८ ॥ ब्रह्ममन्त्रोंमें ओंतत्सत् मन्त्र सर्वशिरोमणि है। इसीकारण हे देवगण ! इस मंत्रके-द्वारा मेरे ज्ञानी भक्तगण सब कर्मफल मुझमें अच्छी तरह अर्पण कर सके हैं और उपासनाके समय मेरा सान्निन्य प्राप्त करसके हैं ॥ ४९-५० ॥ ज्ञानदृष्टिसे सब समय सब स्थानोंमें सर्वथा अपनेको

ओंतत्सदात्मके ब्रह्ममन्त्रे मन्त्रशिरोमणौ।
तिसृणां सच्चिदानन्द-कलानामस्ति पूर्णता॥ ५२॥

ममाध्यात्माधिदैवाधिभूतत्रिरूपवाचकः।
प्रशस्तो मन्त्रराजोऽयं सर्वकल्याणकारकः॥ ५३॥

उपास्तिज्ञानकर्म्माख्यैस्त्रिकाण्डैर्विश्रुता श्रुतिः।
तत्र सर्वत्र साफल्यं पूर्णं दातुं स चार्हति॥ ५४॥

इदानीं खलु साफल्यं ब्रह्मचक्रे यदाप्नुत।
तत्फलं वित्त भो देवाः! मन्त्रसिद्धेर्हि केवलम्॥ ५५॥

किम्विधेष्वपि चक्रेषु पूर्णसाफल्यलब्धये।
मन्त्राणां सिद्धिरेवास्ति बलवत् कारणं यतः॥ ५६॥

क्वापि चक्रेऽथवा पीठे देवाविर्भावदर्शने।
मन्त्रसिद्धिबलादेव जायेते सुरसत्तमाः!॥ ५७॥

मुझसे ही युक्त करके रह सकते हैं॥ ५१॥ इस ओंतत्सदात्मक मन्त्रशिरोमणि ब्रह्ममन्त्रमें मेरी चित् कला, सत् कला और आनन्दकला तीनोंकी पूर्णता विद्यमान है॥ ५२॥ यह श्रेष्ठ मन्त्रराज मेरे अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपत्रयका वाचक है और सर्वकल्याणकारी है॥ ५३॥ कर्म्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, वेद इन तीनोंसे विख्यात है, यह मंत्र इन तीनों काण्डोंमें पूर्ण सफलता देने योग्य है॥ ५४॥ हे देवतागण! तुमलोगोंने अभी ब्रह्मचक्रमें जो सफलता प्राप्तकी है, वह केवल मंत्रसिद्धिके फलसे ही की है, सो जानो॥ ५५॥ क्योंकि किसीप्रकारके भी चक्रमें पूर्ण सफलता प्राप्ति करनेकेलिये मन्त्रसिद्धि ही प्रबल कारण है॥ ५६॥ हे देवश्रेष्ठो! किसी चक्रमें देवताका आविर्भाव तथा दर्शन अथवा किसी पीठमें देवताका आविर्भाव तथा दर्शन मन्त्रसिद्धिके बलसे ही हुआ करता है॥ ५७॥ प्राणकेद्वारा पीठोत्पत्ति होकर वह

प्राणैरुत्पद्यते पीठं भवेद्यद्देवतासनम् ।
प्राणैरेवेष्टचक्रेष्वाकृष्यन्तेऽपीष्टदेवताः ॥ ५८ ॥
सन्ति प्राणा मनोनिघ्ना मन्त्राधीनं मनो ध्रुवम् ।
तस्मात्सिद्धयैव मन्त्राणां पीठे चक्रेऽथवा शुचौ ॥ ५९ ॥
बलाद्भक्तेर्दृढिम्नो मे भक्तानाममलात्मनाम् ।
आविर्भवाम्यहं देवाः ! दैव्यो वा मद्विभूतयः ॥ ६० ॥
साधकानां तयोर्यावानधिकारो भवेदिह ।
प्रादुर्भवति मच्छक्तिस्तावत्येव न संशयः ॥ ६१ ॥
किन्तु तत्रास्ति भो देवाः ! मन्त्रो मे मूलकारणम् ।
अमन्त्रकं यतश्चक्रं स्यादज्ञानप्रवर्त्तकम् ॥ ६२ ॥
अविद्यामन्दिरं तद्वत्पीठः प्रेतालयो भवेत् ।
साहाय्यादेव मन्त्राणां पीठे सिद्धिर्भवेदतः ॥ ६३ ॥
आविर्भावस्य मच्छक्तेश्चक्रेऽदोषस्य कारणम् ।
स्यान्मन्त्रस्तद्बलेनापि जड़े चैतन्यमुद्भवेत् ॥ ६४ ॥

देवताका आसन बनता है और प्राणकेद्वारा ही अभिलषित चक्रमें अभिलषित देवताका आकर्षण हुआ करता है ॥ ५८ ॥ प्राण मनके अधीन है और अवश्य ही मन मन्त्रके अधीन है। इसीकारण मन्त्र-सिद्धिद्वारा ही मैं अथवा मेरी दैवी विभूतियाँ पवित्र चक्रमें अथवा पीठमें शुद्धान्तःकरण भक्तकी भक्तिकी दृढ़ताके बलसे आविर्भूत हुआ करती हैं ॥ ५९–६० ॥ चक्रका अथवा पीठका साधक जिस अधिकारका होता है, उसी अधिकारकी मेरी शक्ति उसमें प्रकट हुआ करती है, इसमें संदेह नहीं ॥ ६१ ॥ परन्तु हे देवगण ! इसमें सफलताका मूल कारण मन्त्र ही है क्योंकि अमन्त्रक चक्र अज्ञान प्रवर्तक और अविद्याका आलय है और अमन्त्रक पीठ प्रेतका निलय बन जाता है। इसकारण मन्त्रकी सहायतासे ही पीठकी सफलता होती है ॥ ६२–६३ ॥ चक्रमें मेरी शक्तिके दोषरहित आविर्भावका कारण मन्त्र है । मन्त्रके बलसे जड़में भी चेतनशक्ति उत्पन्न हो सकती

मूर्त्तियन्त्रादिदेशेषु दिव्येषु मन्त्रसाधनात् ।
आविर्भावो हि पीठस्य यथा देवासनस्य ह ॥ ६५ ॥

अनात्मन्यपि मन्त्राणां बलादात्मा प्रकाशते ।
साधनाच्छवदेहेषु चैतन्यं जायते यथा ॥ ६६ ॥

दैवी शक्तिर्जडेऽपीह मन्त्रशक्तिसमुच्चयात् ।
उत्पद्यते यथा दैव्याः प्रयोगोऽस्त्रावले रणे ॥ ६७ ॥

मन्त्राणां बलतो नूनं भवेत्कर्म्मविपर्य्ययः ।
प्रयोगो मोहनादीनां षण्णां हि कर्म्मणां यथा ॥ ६८ ॥

विचित्रं मन्त्रमाहात्म्यं किन्तावद्वर्णितं भवेत् ।
निरीक्ष्यते भवद्भिर्हि यदा मन्त्रबलान्नु ॥ ६९ ॥

आकृष्यध्वेऽध्वरे यूयं विश्वस्मिन् याज्ञिकव्रजैः ।
यज्ञेषूपस्थितास्सन्तो गृह्णन्तो भागमात्मना ॥ ७० ॥

मन्त्रैर्दातुश्च बाध्यध्वे नरेभ्यः फलमीप्सितम् ।
मन्त्राणामस्ति माहात्म्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ ७१ ॥

है ॥ ६४ ॥ जैसे मूर्ति और यन्त्रादि दिव्य देशमें मन्त्रसाधनसे देवासनरूपी पीठका आविर्भाव होता है ॥ ६५ ॥ मन्त्रके बलसे अनात्मामें भी आत्माका विकाश हो जाता है, जैसे साधनकेद्वारा शवदेहमें चैतन्याविर्भाव होता है ॥ ६६ ॥ मन्त्रके बलसमूहसे जड़में भी दैवीशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जैसे युद्धमें दैवी युद्धास्त्रोंका प्रयोग ॥ ६७ ॥ मन्त्रके बलसे कर्म्मोंका भी विपर्य्यय हो सकता है, जैसे मोहनआदि षट्कर्म्मोंका प्रयोग ॥ ६८ ॥ मन्त्रकी विचित्र महिमा कहाँतक कही जाय, जब आप ही देखते हो कि, इस संसारमें मन्त्रके बलसे ही आपलोग यज्ञमें याज्ञिकसमूहसे आकृष्ट किये जाते हो और मन्त्रके बलसे ही आपलोग यज्ञमें उपस्थित होकर स्वयं यज्ञभाग लेते हुए मनुष्योंको उनके इच्छित फल देनेमें बाध्य होते हो। इसलिये मन्त्रोंकी महिमा

मन्त्रहीनोऽस्ति यो यज्ञस्तामसः स उदाहृतः ।
फलं नोत्पद्यते तस्मान्नीरसात् कातरोरिव ॥ ७२ ॥
योगोऽगर्भोऽस्ति निर्मन्त्रः सगर्भस्तु समन्त्रकः ।
योगोऽगर्भो न शक्नोति मुक्तिं दातुं कदाचन ॥ ७३ ॥
साङ्गानङ्गप्रभेदाभ्यां द्विविधो मन्त्र ईरितः ।
प्रणवो बीजमन्त्राश्च निरङ्गास्तत्र कीर्त्तिताः ॥ ७४ ॥
तेभ्यश्चान्येऽखिला मन्त्राः साङ्गा हि समुदाहृताः ।
निरङ्गा ध्वनिमुख्याः स्युः साङ्गा भावप्रधानकाः ॥ ७५ ॥
निरङ्गाश्चित्तमाकर्ष्टुं मन्त्रा राज्येऽन्तरत्यलम् ।
बहिर्विश्वप्रपञ्चात्तु साङ्गा मन्त्रा मनो ध्रुवम् ॥ ७६ ॥
अन्तर्जगति विक्रष्टुं क्षमन्तेऽतिशयं सुराः ! ।
अतो द्वावेव मन्त्रौ स्तस्समानौ शक्तिशालिनौ ॥ ७७ ॥

मन और वाणीसे अतीत है ॥ ६९-७१ ॥ मन्त्रहीन यज्ञ तामसिक कहाता है, जो नीरस वृक्षके समान होनेसे फल उत्पन्न करनेमें असमर्थ है ॥ ७२ ॥ मन्त्रहीन योग अगर्भयोग कहाता है और समन्त्रक योग सगर्भ कहाता है। अगर्भयोग मुक्ति प्रदान करनेमें कभी समर्थ नहीं है ॥ ७३ ॥ मन्त्रके दो भेद हैं, यथा—निरवयव मन्त्र और सावयव मन्त्र। प्रणव और बीजमन्त्र निरवयव मन्त्र हैं और अन्यान्य सब मन्त्र सावयव मन्त्र कहे गये हैं। निरवयव मन्त्र ध्वनि प्रधान और सावयव मन्त्र भावप्रधान होते हैं ७४-७५ ॥ हे देवतागण ! निरवयव मन्त्र अन्तःकरणको अन्तर्राज्यमें आकर्षण करनेमें अधिक समर्थ हैं और सावयव मन्त्र बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में मनको विकर्ष करनेमें अधिक समर्थ हैं। इसकारण दोनों मन्त्र ही समानरूपसे शक्तिशाली हैं ॥ ७६-७७ ॥ हे देवतागण ! कर्म्मकाण्डमें सावयव मन्त्र भी विभिन्न

साङ्गा हि कर्मकाण्डे ते नानास्वरसमाश्रयात् ।
शक्तीर्नानाविधा नूनं लभन्ते त्रिदिवौकसः ! ॥ ७८ ॥

यथा भवत्सु चत्वारो वर्णा आर्य्यगणेष्वपि ।
तथैवास्ते च मन्त्रेषु देवाः ! वर्णचतुष्टयम् ॥ ७९ ॥

ब्राह्मणा वैदिका मन्त्रास्तान्त्रिकाः क्षत्रियाः स्मृताः ।
मिश्रमन्त्रास्तथा वैश्याः शूद्रा उक्तास्तु लौकिकाः ॥ ८० ॥

कैवल्यं वैदिका मन्त्रास्तान्त्रिकाः पारलौकिकम् ।
ददत्यभ्युदयं श्रेष्ठं मिश्रमन्त्राश्च वाञ्छितम् ॥ ८१ ॥

लौकिका लौकिकीं बाधां मन्त्रा हि नाशयन्त्यलम् ।
प्रादुरास्ते यतः पूर्वं प्रणवस्तदनन्तरम् ॥ ८२ ॥

सृष्टिः शब्दमयी सर्वा जायते विबुधर्षभाः ! ।
मन्त्रा एवासते सृष्टेर्हेतवोऽता लयस्य च ॥ ८३ ॥

प्रणवः सर्ववेदानामादिमो नात्र संशयः ।
सृष्ट्यादौ तत्समुत्पत्तेस्तेषाञ्च प्रभवोऽस्त्यसौ ॥ ८४ ॥

स्वरोंके आश्रयसे विभिन्नप्रकारकी शक्तिको अवश्य ही प्राप्त होते हैं ॥ ७८ ॥ हे देवगण ! जिसप्रकार आप लोगोंमें और आर्य्यगणमें भी चार वर्ण हैं, उसीप्रकार मन्त्र भी चार जातिके होते हैं ॥ ७९ ॥ वैदिक मन्त्र ब्राह्मण, तान्त्रिक मन्त्र क्षत्रिय, मिश्रमन्त्र वैश्य और लौकिक मन्त्र शूद्र कहाते हैं ॥ ८० ॥ वैदिक मन्त्र मुक्तिप्रद, तान्त्रिक मन्त्र श्रेष्ठ पारलौकिक अभ्युदयप्रद, मिश्रमन्त्र कामनाप्रद और लौकिक मन्त्र लौकिक बाधाओंको भलीभाँति नाश करते हैं। हे देवगण! मन्त्र ही जगत्-उत्पत्तिके कारण और मन्त्र ही जगत्के विलयके कारण हैं क्योंकि प्रथम प्रणव प्रकट होता है। तदनन्तर शब्दमयी सब सृष्टि प्रकट होती है और वेदका आदि प्रणव ही है और सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेसे यह वेदोंकी उत्पत्तिका स्थान भी है ॥ ८१-८४ ॥ हे देवगण !

देवाः ! वर्णात्मकस्यास्य प्रणवस्याश्रयेण वै ।
ओंकारमधिकृत्याशु योगी ध्वन्यात्मकं मम ॥ ८५ ॥
सत्यलोकावधि प्राप्तुं शक्नुयात् कोऽत्र संशयः ।
कर्म्मनिष्ठा महात्मानो योगनिष्ठास्तथामराः ! ॥ ८६ ॥
ओंकाराश्रयतो नूनं देवयानगतिं गताः ।
यस्मान्न पुनरावृत्तिस्तं लोकं प्राप्तुमीशते ॥ ८७ ॥
भावातीतस्वरूपान्मे युगपत्सम्प्रकट्य वै ।
त्रिभावात्मक ओंकारो भावश्च भावमप्यहो ॥ ८८ ॥
सृष्टिं शब्दमयीं कृत्वा प्रपञ्चं सृजतो ननु ।
सृष्टेराद्या क्रिया मेऽतो मन्त्राधीनाऽस्ति सर्वथा ॥ ८९ ॥
जीवानामैहिके नूनं तथैव पारलौकिके ।
सर्वथाऽभ्युदये देवाः ! मन्त्रास्सन्ति सहायकाः ॥ ९० ॥
दृश्यप्रपञ्चपुञ्जेन सृष्टेरस्या लयक्षणे ।
शब्दजाते तथा शब्दैर्नूनं हि प्रणवेऽखिलैः ॥ ९१ ॥

वर्णात्मक प्रणवके आश्रयसे ध्वान्यात्मक ओंकारके अधिकारको योगी प्राप्त करके शीघ सत्यलोकतक पहुँच सकता है, इसमें क्या सन्देह है और कर्मनिष्ठ तथा योगनिष्ठ महापुरुष ओंकारके अवलम्बनसे ही देवयानकी गतिको प्राप्त होकर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती, उस लोकको प्राप्त करते हैं ॥ ८५-८७ ॥ मेरे भवातीत स्वरूपसे भाव और त्रिभावात्मक ओंकार एक साथ ही प्रकट होकर भाव और शब्द-मयी सृष्टि उत्पन्न करके दृश्यप्रपञ्च प्रकट करते हैं, इस कारण सृष्टि-की आदि क्रिया सर्वथा मन्त्रके अधीन है ॥ ८८-८९ ॥ हे देवगण ! जीवोंके ऐहलौकिक और पारलौकिक सबप्रकारके अभ्युदयमें मन्त्र ही सहायक हैं ॥ ९० ॥ इस सृष्टिका विलय होते समय दृश्य प्रपञ्च-समूह शब्दसमूहमें और सब शब्द प्रणवमें और सब भावराशि अद्वैत-

भावेऽद्वैते भावजातैर्नियतं परिणम्यते ।
न कर्तव्योऽत्र सन्देहो युष्माभिः खलु कश्चन ॥ ९२ ॥
आदावन्ते च मन्त्रा मे विश्वसर्जनकर्म्मणः ।
सन्त्यतश्चेतना मन्त्रा जड़ं कर्म्मेति निश्चितम् ॥ ९३ ॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
महादेवीदेवसम्वादे मन्त्रशक्तिविज्ञानयोगवर्णनं
नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

भावमें निश्चय ही परिणत होते हैं, आपलोग इसमें कुछ सन्देह न करें ॥ ९१-९२ ॥ इस कारण सृष्टि-उत्पादक कर्म्मका आदि और अन्त मन्त्र ही है । यही कारण है कि, कर्म्म जड़ और मन्त्र चेतन हैं, यह निश्चय है ॥ ९३ ॥

इति श्रीशक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रमें महा-
देवीदेवसम्वादात्मक मन्त्रशक्ति-विज्ञानयोग नामक
चतुर्थ अध्याय समाप्त ।

कर्म्मविज्ञानयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

चिन्मयि ! ज्ञानजननि ! कर्म्मसाक्षिस्वरूपिणी ! ।
दयातस्ते महादेवि ! दयापूरितमानसे ! ॥ २ ॥
गूढ़माकर्ण्य मन्त्राणां रहस्यं परमाद्भुतम् ।
विस्मयानन्दसन्दोहे निमग्नाः साम्प्रतं वयम् ॥ ३ ॥
व्याहृतात्त्वन्मुखाब्जेन मन्त्रविज्ञानयोगतः ।
अज्ञास्मि च नैवास्ति भेदो मन्त्रेण ते सह ॥ ४ ॥
यद्भवत्या पुरा प्रोक्तं मन्त्रविज्ञानवर्णने ।
उत्पत्तिविलयस्थानं मन्त्र एवास्ति कर्म्मणः ॥ ५ ॥
विज्ञानं कर्म्मणस्तस्य गहनायाश्च तद्गतेः ।
रहस्यं श्रोतुमिच्छामो यथावज्जगदम्बिके ! ॥ ६ ॥
जगदुत्पादकं कर्म्म कथमुत्पद्यते शिवे ! ।
तच्छक्तिम्वा विलाप्यैतुं जीवा मुक्तिमलं कथम् ॥ ७ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे ज्ञानजननी ! हे कर्मकी साक्षिस्वरूपिणी ! हे चिन्मयी ! हे दयापूरितमानसे ! हे महादेवि ! इस समय मन्त्रका गूढ अपूर्व रहस्य हम सुनकर चकित और आनन्दित हुए हैं ॥ २-३ ॥ और आपके मुखारविन्दसे कहे हुए मन्त्रविज्ञानयोगसे यह हमारे अनुभवमें आ गया है कि, आपमें और मन्त्रमें कोई भी भेद नहीं है ॥ ४ ॥ पहले मन्त्रविज्ञानवर्णनमें आपने जो कहा कि, मन्त्र ही कर्मकी उत्पत्ति और विलय स्थान है ॥ ५ ॥ हे जगन्माता ! उस कर्म्मका विज्ञान और उस कर्म्मकी गहनगतिका यथार्थ रहस्य सुननेकी हमारी बड़ी इच्छा है ॥६॥ जगदुत्पादक कर्म्म कैसे उत्पन्न होता है और हे शिवे ! कैसे उसकी

साग्रहं ज्ञातुमिच्छामो वयमेतन्महेश्वरि ! ।
विज्ञाप्य कर्म्मविज्ञानं व्यासतोऽनुगृहाण नः ॥ ८ ॥

महादेव्युवाच ॥ ९ ॥

ममैवास्ति स्वरूपं हि कर्म्म पीयूषपायिनः ! ।
वेदा वदन्ति कर्म्मास्ति ब्रह्मसारूप्यभागिति ॥ १० ॥
सर्व्वद्वैतप्रपञ्चोऽयं कर्म्माधीनोऽस्त्यसंशयम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं दृश्यजातमथाखिलम् ॥ ११ ॥
ब्रह्माण्डान्तर्गतं सर्व्वं वहते कर्म्मनिघ्नताम् ।
अव्यक्ताया दशायाश्च देवाः ! व्यक्तदशोद्भवे ॥ १२ ॥
कर्म्मैव कारणं वित्त कर्म्मायत्तमतोऽखिलम् ।
अतः कर्म्माधिकारोऽस्ति सर्वमूर्द्धन्यताश्रितः ॥ १३ ॥
अहं ममेतिवद्भेदो यथा नास्ति दिवौकसः ! ।
मन्मच्छक्त्योस्तथा कर्म्म-मच्छक्त्योर्नास्ति भिन्नता ॥ १४ ॥

शक्तिका नाश करके जीव मुक्त हो सकते हैं ॥ ७ ॥ यह जाननेकी हमारी बड़ी इच्छा है। अतः हे महेश्वरि ! कर्म्मका विस्तारित ज्ञान हमें बताकर कृतकृत्य कीजिये ॥ ८ ॥

महादेवी बोली ॥ ९ ॥

हे देवतागण ! कर्म्म मेरा ही स्वरूप है। कर्म्म ब्रह्मस्वरूप है-ऐसा वेद कहते हैं ॥ १० ॥ समस्त द्वैतप्रपञ्च और आब्रह्मस्तम्ब-पर्य्यन्त समस्त दृश्यसमूह निःसन्देह कर्माधीन है ॥ ११ ॥ ब्रह्माण्डान्तर्गत सब ही वस्तु कर्म्मके अधीन हैं। हे देवगण ! अव्यक्त दशासे व्यक्त होनेमें कर्म्मही कारण है। कर्म्मके ही अधीन सब कुछ है। इसलिये कर्म्मका अधिकार सर्व्वोपरि है ॥ १२-१३ ॥ हे देवगण ! जैसे मुझमें और मेरी शक्तिमें 'अहं ममेतिवत्' भेद नहीं है; उसीप्रकार मेरी शक्ति और कर्म्ममें भेद नहीं है ॥ १४ ॥ हे देवगण ! कर्म्म ही

देवाः! उद्भावकं सत्त्व-तमसोः कर्म्म कथ्यते।
धर्म्मः सत्त्वप्रधानत्वादधर्म्मस्तद्विपर्य्ययात्॥ १५॥
गूढं रहस्यं धर्म्मस्याऽधर्म्मस्याप्येतदेव हि।
जैवैशसहजाख्याभिस्त्रिधा कर्म्म विभिद्यते॥ १६॥
आश्रित्य सहजं कर्म्म भुवनानि चतुर्दश।
जायन्ते च विराट्सृष्टिः जङ्गमस्थावरात्मिका॥ १७॥
देवासुराधिकारेण द्विविधेन समन्वितम्।
सञ्जुष्टं नैकवैचित्र्यैर्भूतसङ्घैश्चतुर्विधैः॥ १८॥
सहजाख्यश्च कर्म्मैव ब्रह्माण्डं सृजते सुराः!।
कर्म्मभूमर्त्यलोकं हि जैवं कर्म्म दिवौकसः!॥ १९॥
विविधानधिकारांश्च मानवानां यथायथम्।
स्वर्नरकादिकान् भोगलोकांश्च सृजते पुनः॥ २०॥
मन्निघ्नं सहजं कर्म्म जैवं जानीत जीवसात्।
जीवाः सन्ति पराधीनाः सहजे कर्म्मणि स्वतः॥ २१॥

सत्त्व और तमका उद्भावक होनेमें सत्त्वप्रधानतासे धर्म्म और तमः-प्रधानतासे अधर्म्म कहलाता है॥ १५॥ धर्म्म और अधर्म्मका यही गूढ़ रहस्य है। कर्म्म साधारणतः 'जैव ऐश और सहज' रूपसे तीन भेदोंमें विभक्त है॥ १६॥ चतुर्दश भुवन और उनमें स्थावरजंगमात्मक विराट् सृष्टिका प्रकट होना सहज कर्म्मके अधीन है॥ १७॥ सहज कर्म्म ही चतुर्विध भूतसङ्घ और देवासुररूपी द्विविध अधिकारसहित अनन्त वैचित्र्यपूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टि करता है। पुनः हे देवगण! जैव कर्म्मकेद्वारा ही कर्म्मभूमि मनुष्यलोक, मनुष्योंके यथायोग्य विविध अधिकार और स्वर्गनरकादि भोगलोककी सृष्टि हुआ करती है॥ १८–२०॥ सहज कर्म्म मेरे अधीन और जैवकर्म्म जीवोंके अधीन हैं सो जानो। सहज कर्म्ममें जीव स्वतः पराधीन हैं और हे देवगण!

जैवे स्वाधीनतां यान्ति जीवाः कर्म्मणि निर्ज्जराः ! ।
सन्त्यतो मानवाः सर्व्वे पुण्यपापाधिकारिणः ॥ २२ ॥
आभ्यां विचित्रमेवेदमैशं कर्म्म किमप्यहो ।
साहाय्यमुभयोरेव कर्म्मैतत् कुरुते किल ॥ २३ ॥
केवलं मम कर्म्मैतदवतारेषु जायते ।
देवाः ! ममावताराणां भेदान्नैकान्निबोधत ॥ २४ ॥
आध्यात्मिकाधिदैवाधिभूतशक्तियुतास्त्रयः ।
शक्तिद्वयेन सञ्जुष्टो युक्तः शक्तित्रयेण च ॥ २५ ॥
एवं पञ्चविधा ज्ञेया अवतारास्तथैव च ।
अंशावेशावतारौ हि तथा पूर्णावतारकः ॥ २६ ॥
एवं बहुविधास्सन्ति ह्यवतारा दिवौकसः ! ।
एते सर्व्वे प्राप्नुवन्ति निघ्नतामैशकर्म्मणः ॥ २७ ॥
दैवीं शक्तिं पराभूय प्रभवत्यासुरी यदा ।
अप्यज्ञानं जगत्यत्र ज्ञानज्योतिर्विलुम्पति ॥ २८ ॥

जैव कर्म्ममें जीव स्वाधीन हैं। इसकारण सब मनुष्य पाप पुण्यके भोगके अधिकारी होते हैं ॥ २१-२२ ॥ इन दोनोंके अतिरिक्त ऐश कर्म्म कुछ विचित्र ही है। ऐश कर्म्म उभयसहायक है और वह कर्म्म केवल मेरे अवतारोंमें ही प्रकट होता है। हे देवगण! मेरे अवतारोंके अनेक भेद जानो ॥ २३-२४ ॥ मेरे अध्यात्मशक्तियुक्त, अधिदैवशक्तियुक्त, अधिभूतशक्तियुक्त, इनमेंसे दो शक्तियुक्त और इनमेंसे तीन शक्तियोंसे युक्त अवतार, इसप्रकारसे पांचप्रकारके अवतार जानने चाहिये और अंशावतार, आवेशावतार और पूर्णावतार, हे देवगण ! इसप्रकारसे मेरे अवतारोंके अनेक भेद हैं। ये सब ऐश कर्म्मके अधीन हैं ॥ २५-२७ ॥ जब जब दैवी शक्तिको परास्त करके आसुरी शक्ति प्रबल होती है, जब संसारमें ज्ञानको आच्छन्न करके अज्ञान प्रबल हो जाता है, हे देवगण ! जब असाधुगण

असाधवो यदा साधून् क्लिश्नन्ति सहसा सुराः ! ।
धर्म्मग्लानिरधर्म्मस्य वृद्ध्या च जायते यदा ॥ २९ ॥
जायन्ते तु यदा मर्त्या मां विस्मृत्य निरन्तरम् ।
विषयासक्तचेतस्का इन्द्रियासक्तिलोलुपाः ॥ ३० ॥
जीवानां शं तदा कर्तुमवतीर्णा भवाम्यहम् ।
सुराः ! समष्टिसंस्कारो हेतुरेवाऽत्र विद्यते ॥ ३१ ॥
बीजञ्च कर्म्मणो ज्ञेयं संस्कारो नात्र संशयः ।
मम प्रभावतो देवाः ! व्यष्टिसृष्टिसमुद्भवे ॥ ३२ ॥
चिज्जडग्रन्थिसम्बन्धाज्जीवभावः प्रकाशते ।
स्थानं तदेव संस्कार-समुत्पत्तेर्विदुर्बुधाः ॥ ३३ ॥
सृष्टेः संस्कार एवास्ति कारणं मूलमुत्तमम् ।
प्राकृतोऽप्राकृतश्चैव संस्कारो द्विविधो मतः ॥ ३४ ॥
स्वाभाविको हि भो देवाः ! प्राकृतः कथ्यते बुधैः ।
अस्वाभाविकसंस्कारस्तथाऽप्राकृत उच्यते ॥ ३५ ॥

साधुओंको सहसा क्लेश पहुँचाने लगते हैं, जब अधर्म्म बढ़नेसे धर्म्मकी ग्लानि होने लगती है और जब मनुष्यगण मुझको भूलकर विषयोन्मत्त और इन्द्रियपरायण हो जाते हैं, तब जीवोंके कल्याण करनेकेलिये मैं अवतीर्ण होती हूँ। हे देवगण! समष्टि संस्कार ही इसमें कारण है ॥ २८-३१ ॥ कर्म्मका बीज संस्कार जानो, इसमें सन्देह नहीं। हे देवगण! मेरे प्रभावसे व्यष्टिसृष्टि होते समय चित् और जड़की ग्रन्थि बन्धकर जीवभावका प्राकट्य होता है। वही संस्कार-उत्पत्तिका स्थान है-ऐसा विज्ञगण समझते हैं ॥ ३२-३३ ॥ संस्कार ही सृष्टिका प्रधान मूलकारण है। संस्कार दोप्रकारका होता है—प्राकृत और अप्राकृत। हे देवगण! विज्ञलोग प्राकृतको स्वाभाविक और अप्राकृतको अस्वाभाविक कहते हैं। उनमें स्वाभाविक संस्कार मुक्तिका कारण और अस्वाभाविक संस्कार बन्धनका

स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारस्तत्र मोक्षस्य कारणम् ।
अस्वाभाविकसंस्कारो निदानं बन्धनस्य च ॥ ३६ ॥

स्वाभाविको हि संस्कारस्त्रिधा शुद्धिं प्रयच्छति ।
देवाः ! षोड़शभिः सम्यक् कलाभिर्मे प्रकाश्यते ॥ ३७ ॥

मुक्तिप्रदोऽद्वितीयोऽपि संस्कारः प्राकृतो ध्रुवम् ।
साहाय्यात्षोड़शानां मे कलानां कर्म्मपारगाः ॥ ३८ ॥

ऋषयः श्रौतसंस्कारैः शुद्धिं षोड़शसङ्ख्यकैः ।
आर्य्यजातेर्विशुद्धाया ररक्षुर्यत्नतः खलु ॥ ३९ ॥

अस्वाभाविकसंस्कारा जीवान् बध्नन्ति निश्चितम् ।
अनन्तास्तस्य विज्ञेया भेदा बन्धनहेतवः ॥ ४० ॥

स्वाभाविकी यदा भूमिः संस्कारस्य प्रकाशते ।
यच्छन्त्यभ्युदयं नृभ्यो दद्यान्मुक्तिमसौ क्रमात् ॥ ४१ ॥

एतावच्छ्रौतसंस्कार रहस्यमवधार्य्यताम् ।
वेद्या भवद्भिरप्येषा श्रुतिर्देवाः ! सनातनी ॥ ४२ ॥

कारण होता है ॥ ३४–३६ ॥ स्वाभाविक संस्कार त्रिविध शुद्धि देते हैं। स्वाभाविक संस्कार अद्वितीय और मुक्तिप्रद होनेपर भी हे देवगण! वह मेरी षोडशकलाओंसे भलीभाँति निश्चय प्रकाशित होता है। मेरी षोडशकलाओंको अवलम्बन करके कर्म्मके पारदर्शी ऋषियोंने वैदिक षोडश संस्कारोंसे पवित्र आर्य्यजातिको यत्नपूर्व्वक शुद्ध रक्खा है ॥ ३७–७९ ॥ अस्वाभाविक संस्कार जीवोंको नियमित बाँधाही करते हैं, उनके बन्धनकारक भेद अनन्त हैं ॥ ४० ॥ स्वाभाविक संस्कारकी भूमि जब प्रकट होती है, तो वह क्रमशः मनुष्योंको अभ्युदयप्र दान करती हुई अन्तमें मुक्ति देती है, हे देवतागण ! आप लोग यही वैदिक संस्कारका रहस्य और सनातनी श्रुति समझें ॥ ४१–४२ ॥ सब वैदिक संस्कारोंमें

संस्कारेष्वहमेवास्मि वैदिकेष्वखिलेष्वहो।
स्वसम्पूर्णकलारूपैस्तन्नॄन् स्वाभिमुखं नये॥ ४३॥
गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं तथा।
जातकर्म्म तथा नाम-करणश्चान्नप्राशनम्॥ ४४॥
चूड़ोपनयने ब्रह्म-व्रतं वेदव्रतं तथा।
समावर्त्तनमुद्वाहोऽग्न्याधानं विबुधर्षभाः!॥ ४५॥
दीक्षा महाव्रतश्चान्त्यः सन्न्यासः षोड़शो मतः।
संस्कारा वैदिका ज्ञेया उक्तषोड़शनामकाः॥ ४६॥
अन्ये च वैदिकाः स्मार्त्ताः पौराणास्तान्त्रिकाश्च ये।
एषु षोड़शसंस्कारेष्वन्तर्भुक्ता भवन्ति ते॥ ४७॥
प्रवृत्ते रोधकास्तत्र संस्कारा अष्ट चादिमाः।
अन्तिमा अष्ट विज्ञया निवृत्तेः पोषकाश्च ते॥ ४८॥
अतो विवेकसम्पन्नः सन्न्यासी विमलाशयः।
ज्ञानाब्धिपारगो देवाः! श्रद्धेयो भवतामपि॥ ४९॥

मैं ही अपनी पूर्णकलारूपसे विद्यमान हूँ। अतः अपनीओर मनुष्यों-को आकर्षित करती हूँ॥ ४३॥ उक्त षोडश वैदिक संस्कारोंके हे देवतागण! नाम ये हैंः—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जात-कर्म्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकरण, उपनयन, ब्रह्मव्रत, वेदव्रत, समावर्त्तन, उद्वाह, अग्न्याधान, दीक्षा, महाव्रत और अन्तिम अर्थात् सोलहवाँ सन्न्यास है। अन्यान्य वैदिक, स्मार्त्त, पौराणिक और तान्त्रिक संस्कार इन्हीं सोलह संस्कारोंके अन्तर्भुक्त हैं॥ ४४-४७॥ उनमें प्रथम आठ संस्कार प्रवृत्तिरोधक हैं और अन्तिम आठ संस्कार निवृत्तिपोषक हैं॥ ४८॥ इसीकारण हे देवतागण! विवेक-सम्पन्न विमलाशय और ज्ञानसमुद्रका पारगामी सन्न्यासी आप लोगोंका भी श्रद्धास्पद है॥ ४९॥ मेरे स्वाभाविक संस्कारका

पूर्णं प्रकाश्य सन्न्यासे संस्कारः प्राकृतो मम।
हेतुत्वं वहते मुक्तेर्मानवानामसंशयम् ॥ ५० ॥
स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारो मूले सहजकर्म्मणः।
मूले तथाऽस्ति जैवस्य संस्कारोऽप्राकृतो मम ॥ ५१ ॥
संस्कारो द्विविधश्चास्ते मूल ऐशस्य कर्म्मणः!
जानीतैतद्रहस्यं भोः श्रौतसंस्कारगोचरम् ॥ ५२ ॥
निखिला एव संस्काराः साद्यन्ताः सम्प्रकीर्त्तिताः।
अतो जीवप्रवाहेऽस्मिन्ननाद्यन्तेऽपि जन्तवः ॥ ५३ ॥
मुक्तिशीलास्तथोत्पत्ति-शालिनः सन्ति सर्व्वथा।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिरमृतान्धसः! ॥ ५४ ॥
शुद्धिः संस्कारजन्यैव मुक्तेरास्ते सहायिका।
यतः संस्कारसंशुद्धेः कर्म्मशुद्धिः प्रजायते ॥ ५५ ॥
कर्म्मशुद्धेस्ततो मुक्तिर्जायते विमलात्मनाम्।
अतः संस्कारजां शुद्धिं जगुः कैवल्यकारणम् ॥ ५६ ॥

पूर्ण विकाश सन्न्यास आश्रममें होकर मनुष्योंकी मुक्तिका कारण अवश्य बन जाता है ॥ ५० ॥ सहज कर्मके मूलमें स्वाभाविक संस्कार, जैव कर्मके मूलमें अस्वाभाविक संस्कार और ऐश कर्म्मके मूलमें उभय संस्कार विद्यमान हैं, यही श्रौत संस्कारोंका रहस्य जानो ॥ ५१–५२ ॥ सब संस्कार ही सादि सान्त हैं। इसकारण जीवप्रवाह अनादि अनन्त होनेपर भी जीव सर्व्वथा उत्पत्ति और मुक्तिशील है, हे देवगण! इसमें आप विस्मय न करें ॥ ५३–५४ ॥ संस्कारजन्य शुद्धि ही मुक्तिकी सहायक है क्योंकि संस्कारशुद्धिसे कर्म्मकी शुद्धि और कर्मशुद्धिसे निर्मल चित्तवालोंकी मुक्ति होती है। इसलिये संस्कार शुद्धिको कैवल्यका कारण कहते हैं ॥ ५५–५६ ॥ जिसप्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षके

बीजमुत्पद्यते वृक्षाद्वृक्षो बीजात्पुनः पुनः।
एवमुत्पद्यमानौ तौ बीजवृक्षौ निरन्तरम् ॥ ५७ ॥
सृष्टिक्रमानन्तभावमुभौ द्योतयतो यथा।
एवं सृष्टिप्रवाहोऽयमनाद्यन्तोऽस्ति निर्ज्जराः ! ॥ ५८ ॥
यथा तु भर्ज्जितं बीजं नाङ्कुराय प्रकल्पते।
तथैव कामनानाशात् खलु भर्ज्जितबीजवत् ॥ ५९ ॥
संस्कारा अपि जायन्ते सर्वथा मुक्तिहेतवः।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यतेऽदितिनन्दनाः ! ॥ ६० ॥
गुणत्रयात्मिका देवाः ! विद्यते प्रकृतिर्मम।
तस्याः स्पन्दादभूत्कर्म्म सहजातमतोऽस्ति तत् ॥ ६१ ॥
संस्कारो बीजतुल्योऽस्ति कर्म्मात्राङ्कुरसन्निभम्।
अतो नष्टे हि संस्कारे कर्म्मणः सम्भवः कुतः ॥ ६२ ॥
जन्यत्वात्प्रकृतेः साक्षात्सहजं कर्म्म कोविदाः।
उत्पत्तेरपि मोक्षस्य जीवानां कारणं विदुः ॥ ६३ ॥

पुनः पुनः बीज होते हुए बीज और वृक्ष सृष्टिक्रमकी अनन्तता निरन्तर प्रकाशित करते हैं। हे देवगण! वैसेही सृष्टिप्रवाह अनादि अनन्त है॥ ५७-५८॥ परन्तु भर्जित बीज जिसप्रकार अङ्कुरोत्पत्ति करनेमें असमर्थ है, उसीप्रकार कामनाके नाश हो जानेसे संस्कार-समूह भी भर्जित बीजके सदृश होकर ही सर्व्वथा मुक्तिकेकारण बन जाते हैं, हे देवगण! इसमें कुछ सन्देह नहीं है॥ ५९-६०॥ मेरी प्रकृति त्रिगुणमयी होनेकेकारण और कर्म प्रकृतिस्पन्दसे उत्पन्न होनेकेकारण उसका सहजात है॥ ६१॥ संस्कार और कर्म बीज और अङ्कुर सदृश हैं। इसलिये संस्कार नष्ट होनेपर कर्मका होना कैसे सम्भव है॥ ६२॥ सहज कर्म प्रकृतिसे साक्षात् उत्पन्न होनेकेकारण जीवोत्पत्तिका भी कारण है और जीवमुक्तिविधायक भी है, इस बातको पण्डित लोग जानते हैं॥ ६३॥ परन्तु जैव कर्म

प्रातिकूल्येन जैवन्तु जीवानां कर्म्म बन्धनम् ।
यावज्जैवं न वै कर्म्म संस्कारैर्वैदिकैः शुभैः ॥ ६४ ॥
पूर्णं शुद्धं सदाप्नोति दशां स्वाभाविकीं हिताम् ।
तावन्नूनं भवेत्पूर्णं जीवकैवल्यबाधकम् ॥ ६५ ॥

धर्म्मस्य धारिका शक्तिस्तस्य चाभ्युदयप्रदः ।
क्रमः कैवल्यदश्चैव सहजे प्राकृते शुभे ॥ ६६ ॥
नित्यं जागर्त्ति संस्कारे प्राणिनां हितसाधके ।
विश्वकल्याणदे नित्ये सर्वश्रेष्ठे मनोरमे ॥ ६७ ॥
संस्कारेष्वहमेवास्मि सर्व्वेषूक्तेषु सन्ततम् ।
संस्थिता धर्म्मरूपेण निश्चितं विबुधर्षभाः ! ॥ ६८ ॥

नारीजातौ तपोमूलः सतीधर्म्मः सनातनः ।
स्वयमेव हि संस्कार-शुद्धिं जनयते ध्रुवम् ॥ ६९ ॥
वर्णाश्रमाख्यधर्म्मस्य मर्य्यादा नितरां तथा ।
नृजातावपि संस्कार-शुद्धिं जनयतेतराम् ॥ ७० ॥

इससे विपरीत होनेकेकारण जीवके बन्धनका कारण है और जबतक वह शुभ वैदिक संस्कारोंसे परिशुद्ध होकर हितकारिणी स्वाभाविक दशाको नहीं प्राप्त होता, तबतक जीवकी मुक्तिका निश्चयही पूर्ण बाधक रहता है ॥ ६४–६५ ॥ धर्मकी धारिका शक्ति और धर्मका अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदानका क्रम प्राणियोंके हित-साधक, संसारके कल्याणकारक, नित्य, शुभ, सर्वश्रेष्ठ और मनोरम सहजात स्वाभाविक संस्कारमें नित्य बनारहता है ॥ ६६–६७ ॥ हे देवगण! उक्त षोडश संस्कारोंमें मैं ही धर्म्मरूपसे सदाही विद्यमान हूँ ॥ ६८ ॥ नारीजातिकेलिये तपोमूलक सनातन सती-धर्म्म संस्कारशुद्धि अपने आपही उत्पन्न करता है, यह निश्चय है ॥ ६९ ॥ उसीप्रकार पुरुषजातिमें भी वर्णाश्रमधर्म्ममर्य्यादा संस्कार शुद्धिको निरन्तर उत्पन्न करती है ॥ ७० ॥ स्त्री और पुरुषकेलिये ये दोनों

नार्य्यर्थं पुरुषार्थश्च धर्म्मावुक्तावुभावपि।
स्वाभाविकावतस्तस्तौ सदाचारावनादिकौ ॥ ७१ ॥
एतद्द्वयसदाचारालम्बनादेव निर्ज्जराः!।
लभन्ते च नरा नार्य्यः कैवल्याभ्युदयौ क्रमात् ॥ ७२ ॥
उभावेतौ सदाचारौ शुद्धित्रैविध्यकारकौ।
संस्कारस्य च सर्वस्य प्राकृतस्य प्रकाशकौ ॥ ७३ ॥
वर्द्धकौ स्तश्च सत्त्वस्य कैवल्याभ्युदयप्रदौ।
सतीधर्म्माश्रयान्नारी पत्यौ तन्मयतां गता ॥ ७४ ॥
नारीयोनेः सती मुक्ता भुक्त्वा स्वर्गसुखं चिरम्।
उन्नतां पुरुषस्यैव योनिं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ ७५ ॥
सम्यग्वर्णाश्रमाख्यस्य श्रौतधर्म्मस्य सेवया।
विश्वेषां गुरवो मान्या निखिला आर्य्यपूरुषाः ॥ ७६ ॥
आद्येनानर्गलां स्वीयां प्रवृत्तिमवरुध्य ते।
परिपोष्य निवृत्तिश्च परेणात्मप्रकाशिकाम् ॥ ७७ ॥

धर्म्म स्वाभाविक हैं। अतः ये दोनों सदाचार अनादि हैं ॥७१॥ हे देवगण! इनदोनों सदाचारोंके अवलम्बनसे ही यथाक्रम नारीजाति और पुरुषजाति अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करती है ॥७२॥ ये दोनों सदाचार त्रिविध-शुद्धिविधायक हैं, सकल स्वाभाविक संस्कारोंके प्रकाशक हैं ॥ ७३ ॥ सत्त्वगुणवर्द्धक हैं और अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद हैं। सतीधर्मके आश्रयसे स्त्री पतिमें तन्मयता लाभ करके बहुकालतक स्वर्गसुख भोगतीहुई नारीयोनिसे मुक्त होकर उन्नत पुरुषयोनिको ही निश्चय प्राप्त होजाती है ॥७४-७५॥ वेदविहित वर्णाश्रमधर्मकी सुन्दररूपसे सेवा करनेसे जगद्गुरु और मान्य समस्त आर्य्यपुरुषगण प्रथमकेद्वारा अपनी अनर्गल प्रवृत्तिको रोक कर और दूसरेकेद्वारा आत्मप्रकाशिका निवृत्तिको बढ़ाकर परमङ्गलमय और

अपवर्गास्पदं नित्यं परमं मङ्गलं चिरम् ।
प्राप्नुवन्ति सुपर्वाणः ! स्यादेषोपनिषत्परा ॥ ७८ ॥
विबुधाः ! साम्प्रतं वच्मि कर्म्मत्रैविध्यगोचरम् ।
वैज्ञानिकं स्वरूपं वः सावधानैर्निशम्यताम् ॥ ७९ ॥
स्वभावात्प्रकृतिर्मे हि स्पन्दते परिणामिनी ।
स एव स्पन्दहिल्लोलः स्वभावोत्पादितो मुहुः ॥ ८० ॥
सदैवास्ते भवन् देवाः ! स्वरूपे प्रतिबिम्बितः ।
तस्मान्मम प्राकृतानां गुणानां परिणामतः ॥ ८१ ॥
अविद्याऽऽविर्भवेन्नूनं तरङ्गैस्तामसोन्मुखैः ।
सत्त्वोन्मुखैश्च तैर्देवाः ! विद्याऽऽविर्भावमेति च ॥ ८२ ॥
तदाऽविद्याप्रभावेण तरङ्गाणां मुहुर्मुहुः ।
आघातप्रतिघाताभ्यां जलैः पूर्णे जलाशये ॥ ८३ ॥
अगण्यवीचिसङ्घेषु नैकवैधवबिम्बवत् ।
चिज्जड़ग्रन्थिभिर्देवाः ! स्वत उत्पद्य भूरिशः ॥ ८४ ॥
जीवप्रवाहपुञ्जोऽयमनाद्यन्तो वितन्यते ।
तदैवोत्पद्य संस्कारो नूनं स्वाभाविको मम ॥ ८५ ॥

नित्य कैवल्यपदको निरन्तर प्राप्त करलेते हैं, हे देवगण ! यही श्रेष्ठ उपनिषद् है ॥ ७६–७८ ॥ हे देवतागण ! अब मैं आपको त्रिविध कर्म्मका वैज्ञानिक स्वरूप बताती हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ ७९ ॥ मेरी प्रकृति स्वभावसेही परिणामिनी होकर स्पन्दित होती है । हे देवगण ! वही स्वभावजनित स्पन्दनका हिल्लोल सदाही स्वरूपमें वारम्वार प्रतिफलित होनेलगता है, अतः मेरी प्रकृतिके गुणपरिणामकेकारण तमकी ओरके तरङ्गसे अविद्या और सत्त्वकी ओरके तरङ्गसे विद्या अवश्य प्रकट होती है ॥ ८०–८२ ॥ उस समय अविद्याके प्रभावसे वारम्वार तरङ्गोंके घात प्रतिघातद्वारा, जलपूर्ण जलाशयके अगणित तरङ्गोंमें अनेक चन्द्रबिम्बके प्रकाशके समान, हे देवगण ! स्वतः ही अनेक चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न होकर अनादि अनन्त जीव-

कर्म्मणा सहजेनैव विश्वविस्तारकारिणा।
आविर्भावयते सृष्टिं जङ्गमस्थावरात्मिकाम् ॥ ८६ ॥

किन्तु मानवदेहेषु पूर्णे जीवत्व आगते।
जैवमुत्पद्यते कर्म्म तत्र तत्क्षणमेव तु ॥ ८७ ॥

अस्वाभाविकसंस्कार-प्रवाहो वहते ध्रुवम्।
जैवकर्म्मप्रभावात्स वैश्ववैचित्र्यसङ्कुलम् ॥ ८८ ॥

त्रितापप्रचुरं रक्षेदावागमनचक्रकम्।
जैवकर्म्मप्रभावाच्च तस्मादेव भवन्त्यमी ॥ ८९ ॥

नरकप्रेतपित्रादिभोगलोकाः स्वरन्विताः।
मृत्युलोकात्मकः कर्म्म—लोकश्च विबुधर्षभाः ! ॥ ९० ॥

उत्पद्यन्ते तथेमानि भुवनानि चतुर्दश।
विद्याऽऽस्ते मामकीना या पूर्णसत्त्वगुणान्विता ॥ ९१ ॥

एतस्याः कारणत्वेन शक्तिरैशस्य कर्म्मणः।
विचित्रास्ति तयोस्ताभ्यां कर्म्मभ्याञ्च सहायिका ॥ ९२ ॥

प्रवाहको विस्तार करती है। उसी समय मेरा स्वाभाविक संस्कार अवश्य उत्पन्न होकर संसारविस्तारकारी सहजकर्म्मसे ही स्थावर-जंगमात्मक सृष्टि प्रकट करता है ॥८३-८६॥ परन्तु जीवत्वकी पूर्णता मनुष्य शरीरमें प्राप्त होनेपर जैव कर्म्म उत्पन्न होता है और वहां उसी समय अस्वाभाविक संस्कारका प्रवाह प्रवाहित अवश्य होता है और वह जैव कर्म्मके बलसे ब्रह्माण्डके वैचित्र्यसे युक्त और त्रितापमय आवागमनचक्रको स्थायी रखता है। उसी जैवकर्मके प्रभावसे स्वर्गलोक सहित नरकलोक, प्रेतलोक, पितृलोकआदि भोग-लोक और मृत्युलोकरूपी कर्मलोक तथा हे देवगण ! चतुर्दश भुवन उत्पन्न होते हैं। पूर्ण सत्त्वगुणमयी मेरी विद्याकेकारण ऐश कर्मकी शक्ति उन दोनों कर्मोंकी सहायक होनेपर भी उनसे विचित्र

विद्यायां तत्त्वपूर्णायामविद्यायाः कथञ्चन ।
नैवास्ते लेशमात्रं हि विद्यासेवित ईश्वरः ॥ ९३ ॥
सर्व्वतोऽतस्तटस्थोऽपि सर्व्वेषामन्तरात्मदृक् ।
यथायथं पालयते सृष्टिस्थितिलयक्रमम् ॥ ९४ ॥
अतोऽहमेव सम्प्रोच्ये जगत्यां जगदीश्वरी ।
महामान्या जगद्धात्री सर्वकल्याणकारिणी ॥ ९५ ॥
देवाः ! प्रकृतिजन्यत्वादस्ति कर्म्म जड़ात्मकम् ।
अतः कर्म्मत्रयेऽपि स्यात्पूर्णा वस्सुसहायता ॥ ९६ ॥
सञ्चालने भवन्तो हि कर्म्मणः सहजस्य मे ।
पूर्णं सहायकाः सन्ति तन्मे प्रकृतिसाद्यतः ॥ ९७ ॥
जैवं कर्म्मास्ति जीवानामायत्तं प्रकृतेर्यतः ।
अतस्तत्रार्द्धसम्बन्धो वर्त्तते भवतां सुराः ! ॥ ९८ ॥
भवन्तो मानवानां हि सन्ति प्रारब्धचालकाः ।
पुरुषार्थस्य कर्त्तारः स्वयं जीवा न संशयः ॥ ९९ ॥

है ॥८७-९२॥ विद्यावस्थामें सत्त्वगुणकी पूर्णता होनेसे किसीप्रकारसे भी अज्ञानका लेशमात्र नहीं रहता, इसकारण विद्यासेवित ईश्वर सबसे अलग रहकर भी सबके अन्तर्द्रष्टा होकर सृष्टि स्थितिलयका क्रम यथावत् पालन कराते हैं ॥ ९३-९४ ॥ इसीकारण मैं ही जगत्में जगदीश्वरी विश्वकल्याणकारिणी जगद्धात्री महामान्या कहलाती हूँ ॥ ९५ ॥ हे देवतागण ! कर्म प्रकृतिसञ्जात होनेकेकारण जड़ है । इसकारण तीनों कर्मोंमें आपलोगोंकी पूरी सहायता विद्यमान है ॥ ९६ ॥ सहजकर्मके सञ्चालनमें आपलोग पूर्ण सहायक हो क्योंकि सहजकर्म मेरी प्रकृतिके आधीन है । ॥ ९७ ॥ हे देवतागण ! जैवकर्म जीवप्रकृतिके अधीन होनेकेकारण उसमें आपका आधा सम्बन्ध है क्योंकि मनुष्योंमें प्रारब्धके सञ्चालक आपलोग और

किन्त्वैशकर्म्मणो देवाः ! आज्ञां लब्ध्वाऽथ मामकीम् ।
अवतीर्य्य भवन्तो वै सम्पद्यन्ते सहायकाः ॥ १०० ॥
ममावतारसाहाय्ये प्रवर्त्तन्तेऽथवा द्रुतम् ।
अत्यन्तमस्ति दुर्ज्ञेया गहना कर्म्मणो गतिः ॥ १०१ ॥
राजते कर्म्मराज्यञ्च नानावैचित्र्यसङ्कुलम् ।
अनन्तपिण्डब्रह्माण्ड-कर्तृ कर्म्मैव विद्यते ॥ १०२ ॥
यो मे कर्म्मगतिं वेत्ति स मत्सान्निध्यमाप्नुयात् ।
न स्वल्पोऽप्यत्र सन्देहो विधेयो विस्मयोऽथवा ॥ १०३ ॥
दक्षाः कर्म्मगतिं ज्ञातुं भक्ता ज्ञानिन एव मे ।
ज्ञातुं कर्म्मगतिं जीवा अन्यथेच्छन्त आत्मना ॥ १०४ ॥
विद्याभिमानिनो मूढ़ा मम भक्तेः पराङ्मुखाः ।
विमार्गगाः पतन्त्याशु रात्र्यन्धा इव गह्वरे ॥ १०५ ॥
जैवस्य कर्म्मणो देवाः ! द्वे गती स्तः प्रधानतः ।
जीवानेका गतिर्जैवी ह्यधस्तान्नयते तयोः ॥ १०६ ॥

पुरुषार्थके कर्त्ता जीव स्वयं हैं ॥ ९८-९९ ॥ परन्तु हे देवतागण ! मेरी आज्ञाको पाकर अवतार ग्रहण करके तुमलोग ऐश कर्मके सहायक बनते हो ॥ १०० ॥ अथवा मेरे अवतारोंकी सहायकतामें शीघ्र प्रवृत्त होते हो। कर्मकी गहनगति अतिदुर्ज्ञेय है ॥ १०१ ॥ कर्मराज्य नाना वैचित्र्यसे पूर्ण है और कर्म ही अनन्त पिण्ड और अनन्त ब्रह्माण्डोंका कर्त्ता है ॥ १०२ ॥ जो मेरे कर्मोंकी गतिको जानता है, वह मेरे सान्निध्यको लाभ करता है, इसमें सन्देह और विस्मय कुछ भी नहीं करना चाहिये ॥ १०३ ॥ मेरे ज्ञानी भक्त ही कर्मगतिवेत्ता हो सकते हैं। अन्यथा कर्मकी गति जाननेकी स्वयं इच्छा करनेवाले मेरी भक्तिसे विमुख विद्याभिमानी मूर्ख जीव मूर्ख रात्र्यन्धके समान विपथगामी होकर गड्ढेमें शीघ्र गिर जाते हैं ॥ १०४-१०५ ॥ हे देवगण ! जैवकर्मकी प्रधान दो गतियाँ हैं। उनमेंसे एक गति जीवोंको अधःपतित करती

प्रापयेत जडत्वं च देवाः! साऽऽस्ते तमोमयी ।
यतश्चाधर्म्मसम्भूता वर्त्ततेऽसौ दिवौकसः! ॥ १०७ ॥
ऊर्द्ध्वं प्रापयते जीवान् द्रुतं जैव्यपरा गतिः ।
स्वरूपं चेतनञ्चासावभिलक्ष्य प्रवर्त्तयेत् ॥ १०८ ॥
धर्म्मस्य धारिका शक्तियुता सत्त्वमयी हि सा ।
इयं हि कर्म्मणो देवाः! गतिः सेव्योर्द्ध्वगामिनी ॥ १०९ ॥
देवाः! ऊर्द्ध्वगतेर्जैव-कर्म्मणोऽस्याः कदाचन ।
विच्योतेरन् कथाञ्चिन्न भवन्तो भोगलोलुपाः ॥ ११० ॥
मार्गमालम्ब्य मे नूनमेनमेवोर्द्ध्वगामिनम् ।
मामनायासमेवाशु भवन्तो लब्धुमीशते ॥ १११ ॥
श्रूयतां मद्वचो देवाः! कर्म्मणा सह सर्वथा ।
सम्बध्येतेऽथ शक्ती द्वे आकर्षणविकर्षणे ॥ ११२ ॥
दिवौकसः! रागमूला शक्तिराकर्षणाभिधा ।
भवद्भिरवगन्तव्या समुत्पन्ना रजोगुणात् ॥ ११३ ॥

है और उनको जडत्वकीओर ले जाती है, वह तमोमयी गति है क्योंकि वह अधर्म्मसम्भूत है ॥ १०६-१०७ ॥ उसकी दूसरी गति जीवोंको शीघ्र ऊर्द्ध्व करती है और उनको स्वस्वरूप चेतनकीओर प्रवृत्त करती है, वह गति सत्त्वमयी है क्योंकि वह धर्मकी धारिका शक्तिसे युक्त है। हे देवगण! कर्मकी यही ऊर्द्ध्वगामिनी गति सेवनीय है ॥ १०८-१०९ ॥ हे देवतागण! आपलोग कदापि भोग-लालसाके वशीभूत होकर जैव कर्मकी इस ऊर्द्ध्वगामिनी गतिसे किसी प्रकार च्युत न होना ॥ ११० ॥ इस ऊर्द्ध्वगामी मेरे मार्गको अवलम्बन करके आप मुझको अनायास शीघ्रही प्राप्त हो सकोगे ॥ १११ ॥ हे देवतागण! मेरी बात सुनो, कर्मके साथ दो शक्तियोंका सर्व्वथा सम्बन्ध है, एक आकर्षणशक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति ॥ ११२ ॥ आकर्षण-शक्ति रागमूलक होनेसे रजोगुणसे उत्पन्न है, हे देवगण! इसको

विकर्षणाख्या या शक्तिरपरा द्वेषमूलिका ।
अवधार्य्या भवद्भिः सा समुद्भूता तमोगुणात् ॥ ११४ ॥
आभ्यां द्वाभ्यां हि शक्तिभ्यां ब्रह्माण्डं निखिलं तथा ।
पिण्डं समस्तमाच्छन्नं सत्यमेतद्वदामि वः ॥ ११५ ॥
एतच्छक्तिद्वयं ह्यास्ते मयि नैवास्म्यहं तयोः ।
बलाच्छक्तिद्वयस्यास्य कर्म्मजातमथाखिलम् ॥ ११६ ॥
सम्विभक्तं द्विधा देवाः ! उत्तरोत्तरवर्द्धकम् ।
सृष्टेर्द्वन्द्वात्मिकाया मे प्रवाहं वाहयत्यहो ॥ ११७ ॥
समता च द्वयोर्यत्र शक्त्योः संजायते शुभा ।
तत्रैव सत्त्वसञ्जुष्ट-ज्ञानानन्दस्थितिर्भवेत् ॥ ११८ ॥
अहं तस्यामवस्थायां सत्त्वमय्यां सदा सुराः ! ।
नन्वाविर्भावमापन्ना सन्तिष्ठे नात्र संशयः ॥ ११९ ॥
काऽप्यवस्था बन्धहेतुः शक्तिद्वयसमन्विता ।
जीवानां सर्वथा देवाः ! जीवत्वस्यैव पोषिका ॥ १२० ॥

आप समझें ॥ ११३ ॥ दूसरी विकर्षणशक्ति द्वेषमूलक होनेके कारण तमगुणसे उत्पन्न है, ऐसा आप समझें ॥ ११४ ॥ इन्हीं दोनों शक्तियोंसे समस्त ब्रह्माण्ड और समस्त पिण्ड आच्छन्न है, इसको आपलोगोंसे मैं सत्य कहती हूँ ॥ ११५ ॥ ये दोनों ही शक्तियाँ मुझमें हैं परन्तु मैं इन दोनोंमें नहीं हूँ। इन दोनों शक्तियोंके प्रभावसे सब कर्मसमूह द्विधा विभक्त होकर मेरी द्वन्द्वात्मक सृष्टिका प्रवाह उत्तरोत्तर प्रवाहित करते रहते हैं ॥ १०६-११७ ॥ इन दोनों शक्तियोंकी जहां सुन्दर समता होती है, वहीं सत्त्वगुणमय ज्ञान और आनन्दका स्थान है ॥ ११८ ॥ उसी सत्त्वगुणमय अवस्थामें मैं सदा प्रकट रहती हूँ, हे देवगण ! इसमें सन्देह नहीं है ॥ ११९ ॥ इन दोनों शक्तियोंसे युक्त बन्धन करने वाली वह अवस्था सर्व्वथा जीवोंके जीवत्वकीही पोषिका है

सत्त्वावस्थातृतीया या सैव मुक्तिप्रदायिका ।
एतच्छ्रौतरहस्यं हि ज्ञायतां विबुधर्षभाः ! ॥ १२१ ॥
द्वन्द्वात्मिकाऽस्ति या शक्तिस्तन्मूलं विबुधाः! अतः ।
मुच्यतां सर्वदा कर्म्म रागद्वेषादिसङ्कुलम् ॥ १२२ ॥
रागद्वेषादिभिर्मुक्ता द्वन्द्वातीतपदं गताः ।
निष्कामाः सत्त्वसम्पन्ना यूयं कर्त्तव्यकर्म्मणि ॥ १२३ ॥
कर्म्मयोगरताः सन्तस्तत्परा भवतामराः ! ।
सर्व्वोत्तमफलं लब्ध्वा सानन्दा भवताप्यहो ॥ १२४ ॥
भो देवाः ! कर्म्मयोगेऽस्मिन् प्रत्यवायो न विद्यते ।
कर्म्माप्येतत्कृतं स्वल्पं त्रितापं हरते क्षणात् ॥ १२५ ॥
कर्म्मयोगोऽयमेवाशु कामनाविलयेन हि ।
समुत्पादयते देवाः ! शुद्धिं संस्कारगोचराम् ॥ १२६ ॥
संस्कारशुद्धितो नूनं क्रियाशुद्धिः प्रजायते ।
अविद्यायाः क्रियाशुद्ध्या लयः सम्पद्यते ध्रुवम् ॥ १२६ ॥

॥१२०॥ तीसरी सत्त्वगुणकी जो अवस्था है, वही मुक्तिविधायिका है, हे देवगण ! यही वेदोंका रहस्य है, सो आप जानें ॥ १२१ ॥ हे देवतागण ! इसकारण आपलोग द्वन्द्वात्मक-शक्तिमूलक और रागद्वेषादिसंकुल कर्मका सर्वदा त्याग करें ॥ १२२ ॥ हे देवगण ! रागद्वेषसे विमुक्त होकर द्वन्द्वातीत पदवीको लाभकरतेहुए निष्काम होकर और सत्त्वगुण-से युक्त होकर कर्म्मयोगी होते हुए कर्तव्यकर्म्मपरायण होवें और सर्वोत्तम फल पाकर आनन्दित होवें ॥ १२३-१२४ ॥ हे देवगण ! इस कर्म्मयोगमें प्रत्यवाय नहीं है और यह कर्म्म थोड़ासा किया हुआ भी शीघ्र त्रितापको दूर करता है ॥ १२५ ॥ हे देवगण ! यही कर्म्मयोग कामनाके विलयद्वारा संस्कारशुद्धि शीघ्र उत्पन्न करता है ॥ १२६ ॥ संस्कार शुद्धिसे ही क्रियाशुद्धि होती है और क्रियाशुद्धिसे अविद्याका विलय अवश्य होता है और उससे विद्याकी सहायताकेद्वारा अज्ञान-

अविद्याविलयाद्विद्या–साहाय्यान्नश्यति स्वयम्।
चिज्जडग्रन्थिरज्ञानमूलिका नात्र संशयः॥ १२८॥
चिज्जडग्रन्थिसंनाशाज्जीवो वै जायते शिवः।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिरमृतान्धसः॥ १२९॥
ब्रह्माण्डपिण्डरूपस्य ह्यनाद्यन्तस्य कोविदाः।
देवाः! सृष्टिप्रवाहस्य कर्मैवोत्पादकं जगुः॥ १३०॥
कर्मप्रवाहोऽनाद्यन्त स्ततस्तभोगलिप्सया।
सक्तानां तत्र जीवानां कर्मनाशः सुदुष्करः॥ १३१॥
अथवा मोचनं नूनं दुर्लभं कर्मबन्धनात्।
वर्त्तते विबुधश्रेष्ठाः! किमन्यद्वो ब्रवीम्यहम्॥ १३२॥
तत्कर्मबीजसंस्कारमुन्मूलयितुमात्मना।
निष्कामनात्रतैः सद्भिर्भवद्भिर्यत्यतां सुराः!॥ १३३॥
तस्याहं सुगमोपायं वर्णये वः पुरोऽधुना।
समाहितैर्भवद्भिश्च श्रूयतां मे हितं वचः॥ १३४॥

मूलक चिज्जडग्रन्थिका नाश स्वयं हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १२७–१२८॥ और चिज्जडग्रन्थिके नाश होनेसे ही जीव शिव हो जाता है। हे देवगण! आप लोग इसमें विस्मय न करो॥ १२९॥ हे देवगण! कर्म ही ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाह-का उत्पादक है, सुधीगण ऐसा कहते हैं॥ १३०॥ कर्मप्रवाह अनादि अनन्त है। इसकारण कर्मके भोगकी इच्छासे कर्ममें आसक्त होकर कर्मका नाश करना अथवा कर्मके फन्देसे मुक्त होना जीवोंकेलिये असम्भव है, हे देवश्रेष्ठगण! आप लोगोंसे और मैं क्या कहूँ॥ १३१–१३२॥ इसकारण हे देवगण! आप लोग निष्कामव्रत होकर कर्मबीज-रूपी संस्कारके नाश करनेमें स्वयं प्रयत्न करो॥ १३३॥ इसका सुगम उपाय मैं आप लोगोंके सामने इस समय वर्णन करती हूँ, आप लोग भी सावधान होकर मेरी हितकी बात सुनें॥ १३४॥ हे देवगण! आप मेरी पवित्र परायणताको ग्रहण करो, मेरा आश्रय ग्रहण करो

मत्परायणतां पुण्यां गृहीताश्रयणं मम ।
मद्भक्ताः सततं कर्म मद्युक्ताः कुरुतामराः ! ॥ १३५ ॥
मदयुक्तैः कृतं कर्म बन्धनाय प्रकल्पते ।
मद्युक्तैर्विहितं तत्तु दत्ते कैवल्यमुत्तमम् ॥ १३६ ॥
संसारोऽतिविचित्रोऽयं जीवबन्धनकारकः ।
विकर्षणाकर्षणोत्थ-द्वन्द्वादेव प्रजायते ॥ १३७ ॥
संतिष्ठते च जीवानां द्वन्द्वः स्यात् बन्धकारणम् ।
परन्त्वस्त्येकतत्त्वं हि मुक्तेः कारणमुत्तमम् ॥ १३८ ॥
तदाश्रयेण मद्भक्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
युक्तकर्मरताः सन्तो निष्पापा मत्परायणाः ॥ १३९ ॥
यदा भवन्ति भो देवाः ! निष्कामव्रतधारिणः ।
तदैव मोक्षसम्प्राप्तेर्जायन्ते तेऽधिकारिणः ॥ १४० ॥
यदा संस्कारबीजं स्यान्निष्कामानलभर्ज्जितम् ।
जैवं कर्म तदा रक्त-बीजरूपं प्रणश्यति ॥ १४१ ॥
एवं सति स्वयं जीवा जैवीं प्रकृतिमात्मनः ।
त्यक्त्वा मत्प्रकृतिं नूनमाश्रयन्ते शिवप्रदाम् ॥ १४२ ॥

मुझमें ही भक्तिमान् हों और मुझमें युक्त होकर निरन्तर कर्म करो ॥ १३५ ॥ मुझमें अयुक्त होकर किया हुआ कर्म बन्धनदशाको उत्पन्न करता है और मुझमें युक्त होकर किया हुआ कर्म उत्तम कैवल्यप्रद है ॥ १३६ ॥ हे देवतागण ! आकर्षण-विकर्षणजनित द्वन्द्वसे ही बन्धन करनेवाला यह अतिविचित्र संसार उत्पन्न होता है और स्थिर रहता है क्योंकि द्वन्द्व ही जीवोंके बन्धनका कारण है परन्तु एकतत्त्व ही मुक्तिका उत्तम कारण है। उसके आश्रयसे द्वन्द्वातीत और विमत्सर होकर जब मेरे भक्त युक्तकर्ममें रत होकर निष्पाप, मत्परायण और निष्काम—व्रतधारी हो जाते हैं, तभी वे कैवल्यपदप्राप्तिके अधिकारी होते हैं ॥ १३७–१४० ॥ रक्तबीजरूपी जैवकर्म तभी नाशको प्राप्त होते हैं, जब संस्कारबीज निष्कामरूपी अग्निसे भर्जित कर दिये जायँ ॥ १४१ ॥ ऐसा होनेपर जीव स्वतः अपनी जैव प्रकृतिको छोड़कर मेरी परम मङ्गलकर प्रकृतिका ही आश्रय ग्रहण करते हैं ॥ १४२ ॥

तदा मत्प्रकृतिर्विद्या-रूपं धृत्वा मनोहरम् ।
साधकेभ्यो ध्रुवं तेभ्यो दत्ते कैवल्यमुत्तमम् ॥ १४३ ॥
कर्मप्रतिक्रिया देवाः ! अदम्याऽस्ति न संशयः ।
तत्फलोत्पादिका शक्तिरफला नो कदाचन ॥ १४४ ॥
अतो मुक्तेऽपि जीवेऽस्मिन् तत्कृताः कर्मराशयः ।
निर्बीजा निष्फला नैव जायन्ते विबुधर्षभाः ! ॥ १४५ ॥
निर्जराः ! मुक्तिजीवानां कर्मसंस्कारराशयः ।
ब्रह्माण्डस्य चिदाकाशमाश्रयन्त्यो निरन्तरम् ॥ १४६ ॥
जायन्ते पोषिकाः सम्यक्कर्मणोः सहजैशयोः ।
सत्यमेतद्विजानीत निश्चितं वो ब्रवीम्यहम् ॥ १४७ ॥
कर्म प्रायेण दुर्जेयं वर्त्तते नात्र संशयः ।
सन्त्येव निखिला जीवाः कर्मौघवशवर्त्तिनः ॥ १४८ ॥
यूयं भवन्तो भो देवाः ! विश्वेषां शासका अपि ।
महान्तोऽपि सुयुक्ताः स्थ सुदृढैः कर्मबन्धनैः ॥ १४९ ॥

मेरी प्रकृति तब मनोहर विद्यारूप धारण करके उन्हीं साधकोंको उत्तम मुक्ति प्रदान करती है ॥ १४३ ॥ हे देवतागण ! कर्मकी प्रतिक्रिया निस्सन्देह अदमनीय है और कर्मकी फलोत्पादिका शक्ति कभी भी अफला नहीं होती ॥ १४४ ॥ इसकारण हे देवगण ! जीव मुक्त हो जानेपर भी उसके किये हुए कर्मसमूह निर्बीज और निष्फल नहीं होते हैं ॥ १४५ ॥ मुक्तजीवोंके कर्मोंकी संस्कारराशि ब्रह्माण्डके चिदाकाशको आश्रय करके निरन्तर सहजकर्म और ऐशकर्मकी पोषक भली-भाँति बन जाती है, हे देवतागण ! इसको सत्य जानें, मैं ठीक कहती हूँ ॥ १४६-१४७ ॥ कर्म एकप्रकारसे दुर्जेय हैं, इसमें सन्देह नहीं। सब जीवगण तो कर्मोंके वशीभूत होते ही हैं और हे देवगण ! तुम लोग जगत्के नियामक और महान् होनेपर भी सुदृढ़ कर्म बन्धनसे युक्त हो ॥ १४८-१४९ ॥ हे देवतागण ! इसमें क्या

वाच्यं किमत्र गीर्वाणाः! अवतीर्णा स्वतोऽप्यहम्।
बद्धा कर्मसु वर्त्तेऽहं नात्र कार्य्या विचारणा॥ १५०॥
जीवन्मुक्ता महात्मानो यद्भक्ता ज्ञानिनोऽमराः!।
प्राप्ता जीवद्दशायां ये मत्सायुज्यमसंशयम्॥ १५१॥
तेऽपि नैव विमुच्यन्ते ध्रुवं कर्मप्रभावतः।
जीवन्मुक्तैर्हि मद्भक्तैर्ज्ञानिभिश्चापि भुज्यते॥ १५२॥
जैवकर्मस्वरूपं वै प्रारब्धं कर्म निश्चितम्।
प्रारब्धकर्मभिर्यस्माद्भोगादेव प्रणश्यते॥ १५३॥
वासनासंक्षयान्नूनं कर्मणः सहजस्य वै।
निघ्नतां यान्ति ते मुक्ताः परसौभाग्यशालिनः॥ १५४॥
जीवन्मुक्ता महात्मानो यतः स्युर्मत्परायणाः।
तत्ते किमप्यनिच्छन्तो विचरन्ति महीतले॥ १५५॥
कर्मणः सहजस्यामी निघ्नाः सन्ति यतः सुराः।।
भवद्दैवक्रियाणां ते केन्द्रीभूता भवन्त्यतः॥ १५६॥
अहं यद्यपि भक्तेभ्यो ज्ञानिभ्यो हि किमप्यणु।
कदाचिदप्यहो कष्टं दातुं नैवोत्सहे सुराः।॥ १५७॥

कहा जाय, यहाँ तक कि, मैं भी अपनी इच्छासे अवतार धारण करती हुई कर्ममें बँध जाती हूँ, इसमें कुछ विचारनेकी बात नहीं है ॥ १५० ॥ हे देवगण ! मेरे ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्त महात्मा जो जीवित दशामें ही मेरी सायुज्य दशाको प्राप्त हो जाते हैं, वे भी कर्मके प्रभावसे अवश्य ही बच नहीं सकते। मेरे जीवन्मुक्त ज्ञानी भक्तोंको भी जैव-कर्मरूपी प्रारब्धकर्मका भोग अवश्य ही करना पड़ता है क्योंकि प्रारब्धका भोगसे ही क्षय होता है ॥ १५१-१५३ ॥ वासनानाश हो जानेसे उन परमसौभाग्यशाली मुक्तोंको सहजकर्मके ही अधीन बनना पड़ता है क्योंकि वे जीवन्मुक्त महात्मा मत्परायण होनेसे इच्छारहित होकर पृथिवीपर विचरते हैं ॥ १५४-१५५ ॥ हे देवतागण ! वे सहज कर्मके अधीनहोनेकेकारण तुम्हारी दैवी क्रियाओंके भी केन्द्र बन जाते हैं ॥ १५६ ॥ हे देवगण ! यद्यपि मैं ज्ञानी भक्तोंको कभी भी

तथापि रुचितस्तेषां तान् संयोज्यैशकर्म्मणा ।
तैर्ध्रुवं विश्वकल्याणं कारयेऽहमतन्द्रितैः ॥ १५८ ॥

माहात्म्यं कर्म्मणो देवाः! सर्वश्रेष्ठत्वमाश्रितम् ।
कर्म्म भक्ता अपि त्यक्तुं प्रभवो ज्ञानिनोऽपि न ॥ १५९ ॥

यावद्देहं न कोऽपीशः कर्म्म त्यक्तुमशेषतः ।
कर्मयोगाश्रितैस्तस्माद्भवद्भिर्मत्परायणैः ॥ १६० ॥

प्रतिभैवम्विधा शुद्धा नूनमुत्पाद्यतां सुराः! ।
कर्म्मण्यकर्म्म पश्यन्तो ययाऽकर्मणि कर्म्म च ॥ १६१ ॥

कर्त्तव्यं कर्म्म कुर्वन्तो विमुक्ताः कर्म्मबन्धनात् ।
मत्सायुज्यदशामेत्य कृतकृत्यत्वमाप्नुत ॥ १६२ ॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवीदेव-
सम्वादे कर्म्मविज्ञानयोगवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

किसी प्रकारसे अणुमात्र भी क्लेश पहुँचाना नहीं चाहती परन्तु यदि उनकी रुचि अनुकूल होती है, तो मैं उनको ऐशकर्म्मसे युक्त करके उन उद्योगियोंसे जगत्का कल्याण निश्चय कराती हूँ ॥ १५७-१५८ ॥ हे देवतागण ! कर्म्मोंकी महिमा सर्वोपरि है क्योंकि भक्तोंको कर्म्मी बनना पड़ता है और ज्ञानीको भी कर्मी बनना पड़ता है ॥ १५९ ॥ और शरीर रहते हुए पूर्णरीत्या कर्म्मका त्याग असम्भव है । इसकारण हे देवतागण ! आपलोग कर्म्मयोगी और मत्परायण होकर ऐसी शुद्ध प्रतिभा निश्चय ही उत्पन्न करो, जिससे तुमलोग कर्ममें अकर्म और अकर्म्ममें कर्म देखते हुए और कर्तव्यकर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओ और मत्सायुज्यको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाओ ॥ १६०-१६२ ॥

इति श्रीशक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी महादेवी-
देवसम्वादात्मक योगशास्त्रका कर्मविज्ञानयोगवर्णन-
नामक पञ्चम अध्याय समाप्त ।

ज्ञानविज्ञानयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

हे ज्ञानदे! महामान्ये! सर्व्वकर्म्मनियामिके!।
विश्वेश्वरि! महादेवि! कर्म्मपाशविमोचिनि! ॥ २ ॥
रहस्यं कर्म्मणो गूढं तच्छक्तिं महतीं तथा।
अद्भुताऽलौकिकं कर्म्म-राज्यविस्तारमेव च ॥ ३ ॥
श्रावं श्रावं वयं सर्व्वे विस्मिताः स्मो न संशयः।
प्रतीयते जगन्मातः! अत्यन्तं कर्म्म दुस्तरम् ॥ ४ ॥
ज्ञानं तत्ताव्त्विकं देहि साम्प्रतं नो महेश्वरि!।
कर्म्मपाशविनिर्मुक्ता वयं येन लभेमहि ॥ ५ ॥
भवत्याः सत्वरं नूनं गतिं सायुज्यनामिकाम्।
तत्त्वज्ञाननदीष्णाताः कृतकृत्या भवेम च ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे विश्वेश्वरी! हे महामान्ये! हे महादेवि! हे सर्व्वकर्मनियामिके! हे कर्मपाशविमोचिनि! हे ज्ञानदे! कर्मका गूढ रहस्य और कर्मकी अपार शक्ति और कर्मराज्यका अद्भुत और अलौकिक विस्तार सुनसुनकर हम निःसन्देह चमत्कृत हुए हैं। हे जगन्मातः! कर्म अतिदुस्तर प्रतीत होता है ॥ २-४ ॥ हे महेश्वरि! अब हमको वह तत्त्वज्ञान प्रदान कीजिये, जिससे हम कर्मबन्धनसे मुक्त होकर अवश्य आपमें शीघ्र सायुज्यगतिको प्राप्त हो सकें और तत्त्वज्ञानमें प्रवीण होकर कृतकृत्य हो जावें ॥ ५-६ ॥

महादेव्युवाच ॥ ७ ॥

द्वैतरूपाऽहमेवास्मि देवाश्चाद्वैतरूपभाक् ।
द्वैताद्वैतस्वरूपाभ्यां पृथग्भूताऽपि चाऽस्म्यहम् ॥ ८ ॥

सच्चिदानन्दभावो हि स्वरूपे मम संस्थितः ।
एकाऽद्वैतस्वरूपेण जानीतेति दिवौकसः ! ॥ ९ ॥

अहमेव स्वकीयान्तु सत्तामानन्दसंज्ञिकाम् ।
जगत्यां प्रकटीकर्त्तुं नानाकेन्द्रैः पृथग्विधैः ॥ १० ॥

सच्चिद्भावसुविस्तारैरेका ऽद्वैतस्वरूपतः ।
अतुलं द्वैतरूपं हि धरन्ती युगलात्मकम् ॥ ११ ॥

पुरुषप्रकृतीभूय देवाः ! आविर्भवाम्यहो ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यतेऽदितिनन्दनाः ! ॥ १२ ॥

ब्रह्मशक्तिश्च या माया ब्रह्मास्ते यन्निरञ्जनम् ।
वस्तुतस्तु तयोरैक्यमेवास्ते विबुधर्षभाः ! ॥ १३ ॥

अहं स्वानन्दसत्तायाः प्रकाशायैव केवलम् ।
जगत्यां द्वैतरूपेऽपि प्रतिभासे न संशयः ॥ १४ ॥

प्रभावादेव मायाया ब्रह्मण्याभासते जगत् ।
आभासः सोऽपि भो देवाः ! वर्त्ततेऽज्ञानमूलकः ॥ १५ ॥

महादेवी बोली ॥ ७ ॥

हे देवतागण ! मैं ही द्वैत हूँ, मैं ही अद्वैत हूँ और मैं ही द्वैताद्वैतसे रहित हूँ ॥ ८ ॥ मेरे स्वस्वरूपमें सच्चिदानन्दभाव एक अद्वैतरूपमें स्थित है। हे देवतागण ! इस बातको जानो ॥ ९ ॥ मैं ही पृथक् २ अनेक केन्द्रोंसे अपनी आनन्दसत्ताको जगत्में प्रकट करनेकेलिये सत् और चित् भावके विस्तारद्वारा एक अद्वैतरूपसे युगलरूपी अनुपम द्वैतरूपको धारण करके पुरुष और प्रकृतिरूपसे प्रकट होती हूँ। हे देवतागण ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १०-१२ ॥ वास्तवमें हे देवतागण ! निरञ्जन ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति माया एक ही है ॥ १३ ॥ केवल मेरी आनन्दसत्ताके प्रकट करनेकेलिये ही मैं द्वैतरूपमें भी जगत्में निःसन्देह प्रतिभासित होती हूँ ॥ १४ ॥ मायाके प्रभावसे ही ब्रह्ममें

विज्ञानतो विरुद्धोऽस्ति भेद एव हि निर्ज्जराः ! ।
ब्रह्मणस्तस्य शक्तेश्च सर्वथा सर्व्वदा यतः ॥ १६ ॥
अहमानन्दविस्तारं विधातुं स्वप्रभावतः ।
अद्वैतसच्चिदानन्दमयसत्तात एव वै ॥ १७ ॥
द्वे द्रष्टृदृश्यरूपे च यदा सत्ते प्रकाश्य हि ।
ब्रह्ममायास्वरूपाभ्यां प्रतीयेऽहं दिवौकसः ! ॥ १८ ॥
क्षेत्रं मायास्वरूपेण बीजञ्च ब्रह्मरूपतः ।
भूत्वैत्वाहं तदा देवाः ! प्रसुवे निखिलं जगत् ॥ १९ ॥
तस्मिन् काले द्विधा माया भूत्वा नूनं दिवौकसः ! ।
विद्याऽविद्यास्वरूपाभ्यां द्वे रूपे संबिभर्त्यहो ॥ २० ॥
अविद्याऽज्ञानमय्यस्ति विद्या ज्ञानमयी तथा ।
अविद्याऽज्ञानरूपत्वाज्जीवान्कृत्वा स्वसादलम् ॥ २१ ॥
सृष्टिस्थितिलयानाञ्च चक्रेषु विनिपात्य तान् ।
नयते नितरां देवाः ! दशाम्बन्धनकारिणीम् ॥ २२ ॥

जगत्का भान होता है, वह भान अज्ञानमूलक है ॥ १५ ॥ क्योंकि हे देवगण ! ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति मायामें भेदका होना ही सर्वथा सब कालमें विज्ञानविरुद्ध है ॥ १६ ॥ मैं जब आनन्दके विस्तारकेलिये अपने ही प्रभावसे एक अद्वैत सच्चिदानन्दमय सत्तासे द्रष्टा और दृश्यरूपी दो सत्ता प्रकट करके माया और ब्रह्मरूपसे हे देवतागण ! प्रतीत होती हूँ ॥ १७–१८ ॥ उससमय हे देवतागण ! ब्रह्मरूपसे बीज और माया-रूपसे क्षेत्र बनकर सकल जगत् प्रसब करती हूँ ॥ १९ ॥ उस समय माया द्विधा विभक्त होकर विद्या और अविद्यारूपसे दो रूपोंको अवश्य धारण करती है । विद्या ज्ञानमयी है और हे देवतागण ! अविद्या सर्व्वथा अज्ञानमयी होनेसे अविद्या जीवोंको अपने वशमें करके उनको सृष्टि-स्थिति लयके चक्रमें डालकर बन्धन दशाको निरन्तर प्राप्त कराती है ॥ २०—२२ ॥ और ज्ञानजननी विद्या सगुण ब्रह्मरूपी द्रष्टाके

यतो ज्ञानजनन्यस्ति विद्याऽतो नयते ध्रुवम्।
सगुणब्रह्मरूपस्य द्रष्टुर्हि वश्यतां गता॥ २३॥

अज्ञानवागुराबद्धाञ्जीवान्मुक्तिपथं ध्रुवम्।
परं बन्धदशा देवाः! जीवानां वस्तुतस्त्वियम्॥ २४॥

असत्या केवलं मिथ्या-ज्ञानमूलसमाश्रिता।
विद्यारूपश्च मे जीवा उपास्य विधिवत्सुराः!॥ २५॥

प्राप्ता मामधिकुर्वन्ति कैवल्यपदमद्वयम्।
सद्भावमाश्रयन्तो मे मद्भक्ताः क्रमशोऽमराः!॥ २६॥

अधिकृत्य पराभक्तिं विदित्वाऽद्वैतचिन्मयम्।
मत्स्वरूपमशेषेण कृतकृत्या भवन्ति ते॥ २७॥

अविद्यावशमापन्ना जीवा विस्मृत्य मां हठात्।
मायिके दृश्यजालेऽस्मिन् प्रसज्जन्ते विमोहिताः॥ २८॥

परन्तु तेषु जीवेषु शरणं मे गतेषु वै।
अहं नानाप्रकारैस्तानाकर्षामि स्वसम्मुखे॥ २९॥

अधीन रहकर अज्ञानपाशमें आबद्ध जीवोंको मुक्तिमार्गका पथ प्रदर्शन कराती है; परन्तु हे देवगण! वास्तवमें जीवोंकी यह बन्धनदशा असत् और केवल मिथ्याज्ञानमूलक है। जीव विधिपूर्वक मेरे विद्यारूपकी उपासनाद्वारा मुझको प्राप्त होकर हे देवतागण! अद्वितीय कैवल्यके अधिकारी हो जाते हैं। हे देवगण! मेरे सत् भावोंको अवलम्बन करते हुए मेरे भक्तगण क्रमशः मेरी पराभक्तिके अधिकारी होकर मेरे अद्वितीय चिन्मय स्वरूपको भलीभाँति जानकर वे कृतकृत्य होते हैं॥ ॥ २३-२७॥ अविद्याके वशीभूत जीव मुझे एकाएक भूलकर मेरे मायिक इन दृश्योंमें विमोहित होकर फँसते हैं॥ २८॥ परन्तु मेरे शरण आनेपर मैं नानाप्रकारसे उनको अपनीओर आकर्षित कर लिया करती हूँ ॥ २९॥ मेरी भक्ति ही इसका कारण है। हे देवतागण! मैं ही अक्षर

वहते मामकीनाऽत्र हेतुत्वं भक्तिरेव हि।
अहमेवाक्षरं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ॥ ३० ॥

तस्मादेकाऽद्वितीयाऽपि दृश्ये देवाः! स्वमायया।
ब्रह्मेश्वरविराड्रूपभावेषु त्रिविधेष्वहम् ॥ ३१ ॥

अधिभूतः क्षरो भावः कर्म्मैवास्त्यस्य कारणम्।
कर्म्म सम्प्रोच्यते भूत-भावोद्भवकरः किल ॥ ३२ ॥

विसर्ग एव भो देवाः! कर्म्मैव भवकारणम्।
जीवान् कर्म्माणि बध्नन्ति तान्येव मोचयन्ति तान् ॥ ३३ ॥

मदादेशानुकूलं यत्कर्म्म शुद्धं तदीर्य्यते।
जीवेच्छाविहितं कर्म्म प्रोच्यतेऽशुद्धमेव तत् ॥ ३४ ॥

कारणं बन्धनस्यास्ति कर्म्माशुद्धं न संशयः।
मुक्तेश्च कारणं देवाः! शुद्धं कर्म्मैव वर्त्तते ॥ ३५ ॥

वेदकाण्डत्रयस्यैतद्गुह्याद्गुह्यतरं मया।
रहस्यं वर्णितं देवाः! भवद्भ्यः परमाद्भुतम् ॥ ३६ ॥

ब्रह्म हूँ। स्वभाव ही अध्यात्म कहलाता है। इसीसे मैं ही एक अद्वितीय होनेपर भी अपनी मायासे ब्रह्म ईश और विराट्रूपी त्रिविध भावोंमें दिखाई देती हूँ॥ ३०-३१॥ अधिभूत रूप ही क्षरभाव है। कर्म्म ही उसका कारण है। भूतभावोद्भकर विसर्ग ही कर्म्म कहलाता है। हे देवगण! कर्म्म ही जगत्का कारण है। कर्म्म ही जीवोंको बन्धन प्राप्त कराता है और कर्म ही जीवोंको मुक्त कर देता है॥ ३२-३३॥ मेरी आज्ञाके अनुकूल कर्म शुद्ध-कर्म्म और जीवकी इच्छाके अनुकूल कर्म्म अशुद्ध-कर्म्म कहलाता है॥ ३४॥ अशुद्ध कर्म्म निस्सन्देह बन्धनका हेतु और हे देवतागण! शुद्ध कर्म्म ही मुक्तिका हेतु है॥ ३५॥ हे देवतागण! यही मैंने आपसे वेदके काण्डत्रयका परम अद्भुत रहस्य वर्णन किया है; जो अतिगुह्य है॥ ३६॥ मैं एक अद्वितीय होनेपर भी अधिदैव

अहमेकाऽद्वितीयाऽपि रूपं धृत्वाऽऽधिदैविकम्।
पुरुषो वै स्वयम्भूत्वा स्वां शक्तिं प्रकृतिं तथा ॥ ३७ ॥
निर्मायैव निमज्जामि श्रृङ्गारानन्दसागरे।
ममाधिदैवरूपं हि मन्मायावशतः खलु ॥ ३८ ॥
प्राप्याधियज्ञरूपं भोः सत्यं जानीत निर्ज्जराः!।
प्रत्येकजीवपिण्डेषु कूटस्थ इति कथ्यते ॥ ३९ ॥
पुनः शरीररूपेण ह्यहमेव दिवौकसः!।
नारीपुरुषयोर्देहौ सृष्टिमध्ये च बिभ्रती ॥ ४० ॥
नारीधारां नृधाराञ्च वितनोमि यथाक्रमम्।
देवाः! तासान्तु धाराणां लयकाले शुभे ध्रुवम् ॥ ४१ ॥
लयं याति नरे नारी कूटस्थे चैव पुरुषः।
ईश्वरे चापि कूटस्थो विलीय लभते च माम् ॥ ४२ ॥
यतोऽस्मि निर्गुणं ब्रह्म सगुणेशात्मिकाऽप्यहम्।
साधको योगयुक्तात्मा यदा योगाब्धिपारगः ॥ ४३ ॥
प्रकृतेः पुरुषस्यापि भेदं ज्ञात्वा सुनिश्चितम्।
तत्त्वज्ञानमवाप्नोति तदाऽविद्या कथञ्चन ॥ ४४ ॥

रूपको धारण करके स्वयं पुरुष बनती हूँ और अपनी शक्तिको प्रकृति बनाकर श्रृङ्गारके आनन्दसागरमें मग्न होती हूँ। मेरा अधिदैव रूप ही मेरी मायासे अधियज्ञरूप प्राप्त होकर प्रत्येक जीव पिण्डमें कूटस्थ कहलाता है। हे देवतागण! इसको सत्य जानें ॥३७-३९॥ हे देवगण! पुनः शरीररूपसे मैं ही पुरुषदेह और स्त्री देह धारण करके सृष्टिमें पुरुषधारा और स्त्रीधाराका विस्तार करती हूँ। हे देवगण! उन धाराओंको लय करते समय यथाक्रम स्त्रीपुरुषमें लय होती है, पुरुष कूटस्थमें और कूटस्थ ईश्वरमें लय होकर मुझको ही प्राप्त होता है॥ ४०-४२ ॥ क्योंकि मैं ही निर्गुण ब्रह्म और मैं ही ईश्वररूपी सगुण ब्रह्म हूँ। जब योगयुक्त होकर योगसमुद्रका पारगामी योगी साधक प्रकृति और पुरुषके भेदको निश्चय रूपसे जानकर तत्त्वज्ञानी बन जाता है, तब अविद्या उसको महामोहरूपी

नासज्जयितुमीष्टे तं महामोहमहार्णवे।
पश्चादनन्यभक्तिं हि विधाय मयि योगवित् ॥ ४५ ॥
जीवन्मुक्तिपदं शान्तं तत्त्वज्ञो लभते ध्रुवम्।
आत्मज्ञानं विशुद्धञ्च तदाऽसावधिगच्छति ॥ ४६ ॥
स्यात्तत्त्वज्ञानमेवालमात्मज्ञानस्य कारणम्।
ज्ञानी मद्भक्त एवैतामवस्थां देवदुर्लभाम् ॥ ४७ ॥
सर्वथा सर्वदा देवा लब्धुमीष्टे न संशयः।
त्रिगुणात्मकभक्ता मे आर्त्ता जिज्ञासवस्तथा ॥ ४८ ॥
अर्थार्थिनः सुपर्वाणः! परमानन्दचिन्मयम्।
स्वरूपं शक्नुवन्तीह नैव ज्ञातुं यथार्थतः ॥ ४९ ॥
मत्स्वरूपानुमानं ते कृत्वाऽज्ञात्वा यथार्थतः।
मां वदन्ति निमित्ताख्यां जगत्कर्त्रीं कुलालवत् ॥ ५० ॥
स्थूय एव प्रसक्तैषां बुद्धिर्भूत्वाथ गर्विता।
आनन्दाभासमेवैषा ध्रुवम्मेऽनुभवेत् स्वतः ॥ ५१ ॥

महासमुद्रमें किसीप्रकार डुबा नहीं सकती। उसके अनन्तर मुझमें अनन्य-भक्ति करके तत्त्वज्ञानी योगी शान्तियुक्त जीवन्मुक्त पदवीको निश्चय प्राप्त कर लेता है। तब वह शुद्ध आत्मज्ञानको प्राप्त करता है ॥४३-४६॥ तत्त्वज्ञान ही आत्मज्ञानका कारण है। मेरा ज्ञानी भक्त ही इन देव दुर्लभ दशाओंको सर्वथा सब कालोंमें प्राप्त कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं है। हे देवतागण! मेरे त्रिगुणात्मक भक्त आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थीगण मेरे परम आनन्दमय चिन्मय स्वरूपको ठीक ठीक जान नहीं सकते हैं ॥४७-४८॥ वे मेरे रूपका अनुमान करके यथार्थ नहीं जानकर मुझे घड़ेके साथ कुम्हारके उदाहरणके समान जगत्की निमित्तकारण बताते हैं ॥ ५० ॥ स्थूलमें ही उनकी बुद्धि फँसकर गर्वित होकर मेरे आभास

स्थूलायाः प्रकृतेश्चैव परमाण्वादिकां मम ।
सत्तां नित्यां विदित्वाथ ते स्थूले रूप एव मे ॥ ५२ ॥

स्वं ध्येयं वै स्थिरीकृत्य मदुपास्तिं प्रकुर्वते ।
अज्ञातेऽपि यथातथ्यं मत्स्वरूपे दिवौकसः ! ॥ ५३ ॥

सर्वशक्तिविशिष्टां मां विदित्वा दृढभक्तितः ।
स्ववासनानुरूपं हि फलमासादयन्ति ते ॥ ५४ ॥

अस्यामेव दशायाश्च मद्भक्त्याऽनन्ययाऽन्विताः ।
ऊद्र्ध्वं गच्छन्ति मद्भक्ता षष्ठलोकावधि ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

तत्र मे सगुणै रूपैः सहैव शाश्वतीः समाः ।
प्राप्य सालोक्य-सामीप्य-सारूप्यात्मदशात्रयम् ॥ ५६ ॥

निमज्जन्तोऽवतिष्ठन्ते परमानन्दसागरे ।
बिभ्रतस्ते ततो देवाः ! शक्तिं मे देवदुर्लभाम् ॥ ५७ ॥

मद्विभूतिसमायुक्ता विश्वकल्याणहेतवे ।
जन्मानन्तेषु केन्द्रेषु ते गृह्णन्ति महीतले ॥ ५८ ॥

आनन्दका स्वतः अनुभव निश्चय करने लगती है ॥५१॥ मेरी स्थूल प्रकृतिकी परमाणुआदि सत्ताको भी वे नित्य समझकर मेरे स्थूल रूपमें ही वे अपना ध्येय स्थिर करके मेरी उपासना करते हैं । हे देवतागण ! उनको मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान न होनेपर भी वे मुझे सर्वशक्तिविशिष्ट जानकर मुझमें दृढ़भक्तिकेकारण अपनी अपनी वासनाकेअनुसार ही फलको प्राप्त करते हैं ॥ ५२-५४ ॥ और इसी दशामें मेरे भक्त मुझमें अनन्यभक्तियुक्त हो ऊद्र्ध्व षष्ठलोकतक अवश्य पहुंच जाते हैं ॥ ५५ ॥ वहां मेरे सगुणरूपके साथ सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य दशाओंको प्राप्त करके अनन्त कालतक मेरे परमानन्दसागरमें निमज्जन करते रहते हैं और हे देवगण ! तदनन्तर मेरी देवदुर्लभ शक्तिको धारण करके जगत्कल्याणार्थ मेरी विभूतियोंसे युक्त होकर पृथिवीपर अनन्त केन्द्रोंमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ५६-५८ ॥

ततश्च क्रमशो देवाः ! कैवल्यपदमाप्नुयुः ।
सगुणे युगले रूपे दर्शनं मे प्रकुर्वते ॥ ५९ ॥
पूर्वं मे ज्ञानिनो भक्ता माञ्च मत्प्रकृतिं ततः ।
ते मय्येवानुपश्यन्ति पृथक्त्वेन सुरोत्तमाः ! ॥ ६० ॥
निष्कामां मत्पराभक्तिं प्राप्नुवन्तस्ततो मयि ।
इत्थं तन्मयतां यान्ति नूनं कल्याणवाहिनीम् ॥ ६१ ॥
यथा सर्वोत्तमे देवाः ! दाम्पत्यप्रेमसागरे ।
निमज्जन्तौ च यच्छन्तौ पूर्णतां दम्पती मिथः ॥ ६२ ॥
हेतू स्यातां मिथो मुक्तेर्भावमद्वैतमागतौ ।
अनन्यप्रेमसंयुक्ता ज्ञानिभक्तास्तथैव मे ॥ ६३ ॥
आत्मानं प्रकृतिं मत्वा ज्ञात्वा मां पुरुषं तथा ।
पूर्वं ते मे निमज्जन्ते परमानन्दसागरे ॥ ६४ ॥
मां संस्थाप्य प्रपद्यन्त अद्वैतत्वं ततो मयि ।
गूढं भक्तिरहस्यं मे श्रूयतां निर्ज्जराः ! पुनः ॥ ६५ ॥

उसकेबाद हे देवगण ! क्रमशः कैवल्य पदको प्राप्त कर लेते हैं और मेरे ज्ञानी भक्त प्रथम मेरे युगल सगुणरूपमें मुझको दर्शन करते हैं तब वे मुझमें ही मेरी प्रकृति और मुझको अलग अलग देखते हैं, तदनन्तर मुझमें निष्काम पराभक्तिको प्राप्त करके इसप्रकारसे मुझमें कल्याणदायिनी तन्मयताको अवश्य प्राप्त करते हैं ॥ ५९–६१ ॥ हे देवतागण ! जिसप्रकार सर्वोत्तम दाम्पत्यप्रेमसागरमें निमग्न पति और स्त्री एक दूसरेको पूर्णता प्रदान करते हुए अद्वैत भावको प्राप्त होकर एक दूसरेकी मुक्तिका कारण हो जाते है; उसीप्रकार मेरे ज्ञनी भक्त मुझमें अनन्यप्रेमयुक्त होकर पहले अपनेको प्रकृति बनाकर और मुझको पुरुष समझकर परमानन्दसागरमें निमग्न होते और अन्तमें मुझमें अद्वैतभाव स्थापित करके मुझको प्राप्त होते हैं। हे देवतागण ! मेरी भक्तिका गूढ़ रहस्य और सुनिये ॥ ६२–६५ ॥

दाम्पत्यप्रेमपाथोधौ पूर्वं श्रेष्ठे निमग्नयोः।
दम्पत्योर्हि यथा जाया पुरुषत्वं प्रपद्यते॥ ६६॥

पतिश्च ब्रह्मसायुज्यं देवाः! प्राप्नोत्यसंशयम्।
प्रथमायामवस्थायां ज्ञानिभक्तास्तथैव मे॥ ६७॥

स्वत्वं मत्प्रकृतौ लीनं कुर्वते सर्वथा सुराः!।
ततो मत्प्रकृतौ लीनास्त्यक्तस्वत्वाः सुखावहाः॥ ६८॥

आध्यात्मिकैर्मया सार्द्धं ते शृङ्गारैः समन्विताः।
परमानन्दसन्दोहानुभवं किल कुर्वते॥ ६९॥

मत्प्रकृत्या सहैवान्ते सन्निविश्य स्वयं मयि।
मामेवैते प्रपद्यन्ते पराभक्तिपरायणाः॥ ७०॥

एतामेव दशां नाम्ना कैवल्यं श्रुतयो जगुः।
एषैव मे पराकाष्ठा पराभक्तेरुदाहृता॥ ७१॥

आत्मज्ञानस्य बोद्धव्यमेतच्चैवान्तिमं फलम्।
वैधीभक्तेर्यदा देवाः! मद्भक्ता अधिकारिणः॥ ७२॥

जिसप्रकार उत्तम दाम्पत्य प्रेमसागरमें निमग्न दम्पतीमेंसे प्रथम स्त्री पुरुषभावको प्राप्त करती है और पुरुष निस्सन्देह ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करता है। उसीप्रकार हे देवतागण! मेरे ज्ञानी भक्त पहली दशामें अपनेको मेरी प्रकृतिमें सर्व्वथा लय करते हैं और मेरी प्रकृतिमें लय होकर अपना स्वत्व छोड़कर सुखी होते हुए वे मेरेसाथ अध्यात्म-शृङ्गारसे युक्त होकर मेरे परमानन्द सागरका अनुभव करते हैं और अन्तमें वे पराभक्ति परायण मेरी प्रकृति सहित मुझमें स्वयं मिलकर मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ ६६-७०॥ इसी दशाको वेदोंने कैवल्य करके वर्णन किया है। यही मेरी पराभक्तिकी पराकाष्ठा है और यही आत्मज्ञानका चरम फल जानना चाहिये। हे देवगण! मेरे भक्तगण जब वैधी भक्तिके अधिकारी होते हैं, तब मुझे गुरुरूपसे प्राप्त करके उनकी

लब्ध्वा मां गुरुरूपेण तदाज्ञावशवर्त्तिनः ।
नवधा सम्विभक्तासु श्रवणादिषु भक्तिषु ॥ ७३ ॥
रता नित्यमसत्कर्म्म त्यक्तुं सत्कर्त्तुमुद्यताः ।
धर्म्माधर्म्मप्रभेदञ्च श्रुत्वा पूज्यगुरोर्मुखात् ॥ ७४ ॥
सर्वदाऽधर्म्ममुत्स्रष्टुं धर्म्मं पालयितुं तथा ।
जायन्ते तत्परा भूयस्तदा नाधः पतन्ति ते ॥ ७५ ॥
द्वारं तेभ्योऽवरुद्धं स्यान्नरकप्रेतलोकयोः ।
लभन्ते ते तदा भूयो भूयः स्वर्गसुखं सुखम् ॥ ७६ ॥
धर्म्मानुष्ठानतो भक्ता यदा स्युर्विमलाशयाः ।
तप उग्रं चोग्रदानं कुर्वन्तोऽप्युग्रमध्वरम् ॥ ७७ ॥
मय्येव केवलं भक्ति-युक्तास्तिष्ठन्त आसते ।
मत्पराश्चावतिष्ठन्ते त्यक्तलौकिकवासनाः ॥ ७८ ॥
तापसा उग्रकर्म्माणो भक्ता एवम्विधा मम ।
स्वतपोभक्तिप्राबल्याल्लोकमासाद्य सप्तमम् ॥ ७९ ॥

आज्ञाके अधीन रहकर श्रवण कीर्त्तन वन्दनादि नवधा भक्तिमें रत होकर असत् कर्मका नित्य त्याग करते हुए सदा सत्कर्म अनुष्ठानमें प्रवृत्त होते हैं और परमपूज्य गुरुके मुखकमलसे धर्म और अधर्मका भेद सुनकर सदा अधर्मके त्याग और धर्म्मके पालन करनेमें तत्पर होते हैं। तब वे पुनः अधःपतित नहीं होते ॥ ७१-७५ ॥ उनकेलिये प्रेतलोक और नरकलोकका द्वार बन्द हो जाता है और तब वे बारबार स्वर्गसुखको अनायास प्राप्त करते रहते हैं ॥ ७६ ॥ हे देवगण ! जब भक्तोंका चित्त धर्म्माचरणकेद्वारा मलरहित हो जाता है और वे उग्रदान, उग्रतप और उग्र यागयज्ञादिक करते हुए भी केवल मुझमें ही भक्तियुक्त होकर लौकिक वासनाओंसे अपने अन्तःकरणको रहित करके मत्परायण होते हैं, ऐसे उग्रकर्म्मा मेरे तपस्वी भक्तगण अपने तप और भक्तिके प्रभावसे सप्तमलोकमें

परानन्दानुभूतिश्च कुर्वाणा नितरामिमे।
यस्मान्न पुनरावृत्तिर्लभन्ते तत्पदं सुराः! ॥ ८० ॥
सूर्य्यमण्डलमुद्भिद्य युञ्जते मामसंशयम्।
दुश्छेदं गहनश्चास्ते निर्ज्जराः! कर्म्मबन्धनम् ॥ ८१ ॥
ज्ञानिनो योगनिष्णाता मद्भक्ता एव केवलम्।
क्षिप्रं ज्ञानासिना छित्त्वा तन्मोक्षं प्राप्तुमीशते ॥ ८२ ॥
दुर्दमा कर्म्मणः शक्तिस्त्रिधाऽऽबध्नाति प्राणिनः।
तत्प्रकारत्रयं नूनं देवाः! वेदेषु वर्त्तते ॥ ८३ ॥
ख्यातं सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणाभिधैर्ननु।
यत्क्षणात्संसृतावादौ जीवैर्जीवत्वमाप्यते ॥ ८४ ॥
तावन्तं कालमारभ्य संस्कारा जैवकर्मणः।
यावन्तः सम्प्रगृह्यन्ते सञ्चितं कर्म तान्जगुः ॥ ८८ ॥
ये फलोन्मुखसंस्कारा जात्यायुर्भोगरूपकम्।
तथा जीवप्रकृत्यादि फलं दातुं मुहुर्मुहुः ॥ ८६ ॥

पहुँचकर परमानन्दका अनुभव निरन्तर करते हुए अपुनरावृत्तिपदको प्राप्त करते हैं ॥ ७७-८० ॥ वे निःसंदेह सूर्य्यमण्डल भेदन पूर्वक मुझमें युक्त हो जाते हैं। हे देवतागण! कर्म्मबन्धन गहन और दुश्छेद्य है ॥ ८१ ॥ केवल योगनिष्णात मेरे ज्ञानी भक्तगणही उसको ज्ञानकृपाणसे शीघ्र छेदन करके मुक्तिपदको प्राप्त करसकते हैं ॥ ८२ ॥ कर्मकी दुर्दमनीय शक्ति तीनप्रकारसे जीवोंको आबद्ध करती है, उन प्रकारोंका नाम वेदोंमें ही हे देवतागण! सञ्चित, प्रारब्ध, और क्रियमाण नामसे ख्यात है। संसारमें प्रथम जवोंको जीवत्वप्राप्ति जबसे हुई है, तबसे जिन जैवकर्म्मोंका संस्कार उन्होंने संग्रह किया है, वे सब संचित कहलाते हैं ॥ ८३-८५ ॥ जो फलोन्मुख संस्कार जाति आयु भोग और जीवप्रकृतिआदि फल वारंवार देनेकेलिये

जनयन्ते वपुः स्थूलं तान् प्रारब्धं प्रचक्षते।
स्थूलदेहान्विता जीवा नैजीं जैवीं हि वासनाम् ॥ ८७ ॥
सन्तृप्त्या सफलां कर्तुं नूतनं कर्म कुर्वते।
तत्त्वज्ञानविनिष्णातैः क्रियमाणं तदुच्यते ॥ ८८ ॥
संस्कारैः क्रियमाणैस्तैः सञ्चिते परिणम्यते।
क्रियमाणोऽपि संस्कारोऽत्यन्तमुग्रः कदाचन ॥ ८९ ॥
युष्मदादेशतो देवाः! प्रारब्धीभूय सत्वरम्।
सद्य एव फलं सूते नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ॥ ९० ॥
दयादृष्टिश्च मे लब्ध्वा मद्भक्तास्तत्त्वचिन्तकाः।
योगयुञ्जानचेतस्का मत्सेवायां परायणाः ॥ ९१ ॥
अदृष्टं दृष्टसंस्कारे दृष्टञ्चादृष्टसंज्ञके।
परिवर्त्य सुपर्वाणः! गतिं प्रारब्धकर्मणः ॥ ९२ ॥
परिवर्त्तयितुं नूनं क्षमन्ते खलु साधकाः।
किन्तु साध्यं न सर्वेषामेतत् कार्य्यमलौकिकम् ॥ ९३ ॥
सन्ति मे ये परा भक्ताः कृपादृष्टेर्ममैव ते।

स्थूल शरीर उत्पन्न करता है, वह प्रारब्ध कहलाता है और जीव स्थूल शरीरसे युक्त होकर अपनी जैवी वासनाकी तृप्तिकेलिये जो नवीन कर्म करता है, तत्त्वज्ञानी उसको क्रियमाण कहते हैं ॥ ८६-८८ ॥ क्रियमाण संस्कार सञ्चितमें परिणत होते हैं और हे देवतागण! कभी अति उग्रक्रियमाण संस्कार तुमलोगोंकी आज्ञासे प्रारब्धयुक्तभी होकर सद्यः फल उत्पन्न करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ८९-९० ॥ मेरे तत्त्वचिन्तक योगी साधक भक्तगण भी मेरी कृपासे मत्सेवापरायण होकर अदृष्ट संस्कारको दृष्ट संस्कारमें और दृष्ट संस्कारको अदृष्ट संस्कारमें परिवर्तन करके प्रारब्ध कर्म्मकी गतिमेंभी परिवर्तन कर सकते हैं। परन्तु हे देवतागण! यह अलौकिक कार्य्य सबके करने योग्य नहीं है॥ ९१-९३ ॥ मेरे परम भक्तगण मेरीही

कर्तुमेवम्विधं कर्म शक्नुवन्तीह केवलम् ॥ ९४ ॥
उक्तकर्मत्रयस्यैव फलं जीवगणैरिह।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कस्तद्वारयितुं क्षमः ॥ ९५ ॥
एषा प्रतिक्षणं देवाः! कर्मत्रैविध्यवागुरा।
बध्नन्त्यास्तेऽखिलाञ्जीवान् युष्मान् दैत्यांश्च मानवान् ॥ ९६ ॥
ज्ञानिभक्तगणा एव केवलं मामका अहो।
तत्त्वज्ञानासिना छित्त्वा कर्मरज्जुत्रयं दृढम् ॥ ९७ ॥
सञ्चिताद्यभिधं क्षिप्रं विमुच्यन्ते त्रितापतः।
क्रियमाणाभिधं कर्म कर्मयज्ञस्य पावके ॥ ९८ ॥
आहुतिर्जायते देवाः! निःशेषं नात्र संशयः।
तथैवोपासनायज्ञ-वह्नौ प्रारब्धसंस्कृतिः ॥ ९९ ॥
भूत्वा शुद्धाऽपनोद्याशु भक्ततापत्रयं हठात्।
परमानन्दसन्दोह-प्रदा सम्पद्यते ध्रुवम् ॥ १०० ॥
ज्ञानयज्ञाग्नितेजोभिः सञ्चिताः कर्मराशयः।
भस्मीभवन्ति भो देवाः! पूर्णास्तूर्णमशेषतः ॥ १०१ ॥

कृपासे ऐसा कर्म करनेमें केवल समर्थ हो सकते हैं ॥ ९४ ॥ उक्त तीनों-प्रकारके कर्मका ही फल जीवको अवश्य भोगना होता है, उसको कौन हटा सकता है ॥ ९५ ॥ हे देवगण! यह तीनोंप्रकारकी कर्मरज्जु प्रतिक्षण आप लोगों, दानवों, मनुष्यों तथा सब जीवोंको बाँधे रहती है ॥ ९६ ॥ केवल मेरे ज्ञानी भक्तगण ही इन तीनों सञ्चितआदि दृढ़ कर्मरज्जुओंको मेरे तत्त्वज्ञानरूप कृपाणसे काटकर शीघ्र त्रितापमुक्त हो जाते हैं। हे देवगण! कर्मयज्ञकी अग्निमें क्रियमाणकर्म निःशेष आहुति हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं; उसीतरह उपासनायज्ञकी अग्निमें प्रारब्धसंस्कार परिशुद्ध होकर मेरे भक्तका त्रिताप एकाएक शीघ्र दूर करके निश्चय ही परमानन्दप्रद हो जाते हैं ॥ ९७-१०० ॥ और हे देवगण! ज्ञानयज्ञरूप अग्निके तेजसे सम्पूर्ण सञ्चित कर्मराशि शीघ्र

निष्कामाः कर्मयोगेन ज्ञानिभक्तगणा मम ।
क्रियमाणाभिधं कर्म विजयन्ते सुरर्षभाः ! ॥ १०२ ॥
तत्त्वज्ञानप्रपूर्णत्वं सम्प्राप्य ज्ञानिनो यदा ।
लभन्ते ब्रह्मसायुज्यं सञ्चिताख्यः स्वयं तदा ॥ १०३ ॥
कर्मौघस्तान्विहायाशु ब्रह्माण्डप्रकृतिं श्रयेत् ।
अनन्यप्रेमसञ्जुष्टा ज्ञानिभक्तास्तदा मयि ॥ १०४ ॥
आस्वादयन्तः परमानन्दसन्दोहसन्ततिम् ।
विजयन्ते द्रुतं देवाः ! प्रारब्धं कर्म निश्चितम् ॥ १०५ ॥
इत्थं मे ज्ञानिनो भक्ताः शरीरे सत्यपि स्थिरे ।
बुद्धीन्द्रियमनोवाग्भिर्मल्लीना ज्ञानयोगतः ॥ १०६ ॥
जीवन्मुक्तिपदं देवाः ! लभन्ते देवदुर्लभम् ।
वारिबिन्दुर्यथा नूनमतलस्पर्शसागरे ॥ १०७ ॥
आकाशात्पतितो भूत्वा तद्गर्भे सम्प्रलीयते ।
शरीरान्ते तथैवैते जीवन्मुक्ता हि साधवः ॥ १०८ ॥

निःशेष भस्मीभूत हो जाती है ॥ १०१ ॥ हे देवतागण ! कर्मयोगके-द्वारा निष्काम होकर मेरे ज्ञानी भक्तगण क्रियमाण कर्मको जय कर लेते हैं ॥ १०२ ॥ और तत्त्वज्ञानकी पूर्णता प्राप्त करके जब वे ब्रह्म-सायुज्यको प्राप्त करते हैं, तो आप ही सञ्चित कर्मसमूह उनको छोड़कर ब्रह्माण्डप्रकृतिको शीघ्र आश्रय करते हैं । उस समय हे देवगण ! ज्ञानी भक्त मुझमें अनन्य-प्रेमयुक्त होकर परमानन्दसमूहका आस्वादन करते हुए शीघ्र ही प्रारब्ध कर्मको निश्चय ही जय कर लेते हैं ॥ १०३–१०५ ॥ हे देवतागण ! इसप्रकारसे मेरे ज्ञानी भक्त शरीर रहते हुए भी बुद्धि, इन्द्रिय, मन और वाणीसे ज्ञानयोगके-द्वारा मुझमें लीन होकर जीवन्मुक्तिरूपी देवदुर्लभ पदवीको प्राप्त कर लेते हैं और वे जीवन्मुक्त साधु ज्ञानकेद्वारा धौतपाप होकर

मय्येव प्रविलीयन्ते ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।
कर्म्मावलम्बनेनैव विमुक्तेः कर्म्मबन्धनात् ॥ १०९ ॥
य आस्ते सुगमोपायः पुरो वो वर्णितश्च यः।
तस्यास्ति प्रथमं द्वारं सदाचारः सुरोत्तमाः! ॥ ११० ॥
स्थूलं देहञ्च मद्भक्ताः सदाचारस्य सेवया।
पुनन्तो वर्द्धयन्ते हि गुणम्वै सात्त्विकं त्वलम् ॥ १११ ॥
यथाधिकारं धर्म्मस्य विशेषस्याऽथ सेवया।
चित्तं सत्त्वमयं कर्तुं क्षमन्ते धौतकल्मषाः ॥ ११२ ॥
ततो भवन्ति मे भक्तास्तत्त्वज्ञानाधिकारिणः।
अहमेवं निजान् भक्तान् पुनन्ती क्रमशोऽमराः! ॥ ११३ ॥
अध्यात्मशक्त्याऽकर्षामि तांश्च स्वाभिमुखं स्वतः।
मत्सनातनधर्म्मस्य या शक्तिरूर्द्ध्वगामिनी ॥ ११४ ॥
भक्तान्मन्निकटं नेतुं साहाय्यं विदधाति सा।
मत्परायणचेतस्कैः स्वधर्म्मप्रवणैरतः ॥ ११५ ॥

शरीरान्तमें आकाश पतित वारिविन्दुके अतलस्पर्श समुद्रगर्भमें गिरनेके समान मुझमें मिल जाते हैं। हे देवतागण! कर्म्मके अवलम्बनसे कर्म्मके बन्धनसे मुक्त होनेका जो सुगम उपाय है, जिसका वर्णन आपलोगोंके सामने किया था, सदाचार उसका प्रथम द्वार है ॥१०९-११०॥ सदाचारके पालनसे मेरे भक्त स्थूल शरीरको पवित्र करके सत्त्वगुणकी वृद्धि भलीभांति करते हैं ॥ १११ ॥ तदनन्तर अपने अपने अधिकारकेअनुसार विशेष धर्मोंके पालनद्वारा विधूतकल्मष होकर अन्तःकरणको सत्त्वगुणमय बनानेमें समर्थ होते हैं ॥ ११२ ॥ उसके अनन्तर मेरे भक्त तत्त्वज्ञानके अधिकारी बनते हैं। इसप्रकारसे मैं अपने भक्तोंको क्रमशः पवित्र करती हुई अपनी अध्यात्मशक्तिसे उनको अपनीओर आकृष्ट करती हूँ और सनातनधर्मकी उर्द्ध्वगामिनी शक्ति उनको मेरीओर पहुँचानेमें सहायता करती है, इसकारण हे देवतागण! आपलोग स्वधर्म्मानुरत और मत्परायण-

भूयतां येन मुक्तिः स्याद्युष्माकं कर्म्मबन्धनात्।
तत्त्वज्ञानाप्तये पूर्वं मद्भक्ता ननु कुर्वते ॥ ११६ ॥
विवेकेनैव तत्त्वानां प्रकृतेः परिदर्शनम्।
विस्मयावसरो नास्ति कोऽप्यत्रादितिनन्दनाः! ॥ ११७ ॥
प्रकृतेर्मे किलाङ्गानि चतुर्विंशतिरासते।
तत्त्वानि तानि कथ्यन्ते शास्त्रेषु त्रिदिवौकसः! ॥ ११८ ॥
क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमनामकं भूतपञ्चकम्।
अस्त्यपञ्चीकृतं सूक्ष्मं स्थूलं पञ्चीकृतश्च तत् ॥ ११९ ॥
दशधैवं सुपर्वाणः! भूतग्रामः प्रकीर्त्यते।
मम त्रैगुण्यमय्याश्च प्रकृतेः प्राकृतस्य नु ॥ १२० ॥
साहाय्यात्परिणामस्य भूतानां पञ्चकात्सुराः!।
पञ्च ज्ञानेन्द्रियाण्येवं पञ्चकर्म्मेन्द्रियाण्यहो ॥ १२१ ॥
प्रादुर्भवन्त्यमून्येवमिन्द्रियाणि दशैव तु।
तथान्तःकरणस्यापि चतुर्भेदैर्युतान्यहो ॥ १२२ ॥

चित्त बनो, जिससे आपलोगोंकी कर्म्मबन्धनसे मुक्ति होगी। तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेकेलिये सबसे प्रथम मेरे भक्तगण तत्त्वविचारद्वारा मेरी प्रकृतिका दर्शन किया करते हैं। हे देवतागण! इसमें आश्चर्यका कोई अवसर नहीं है ॥ ११३-११७ ॥ हे देवगण! मेरी प्रकृतिके चौबीस ही अङ्ग हैं, वे शास्त्रोंमें तत्त्व कहलाते हैं ॥ ११८ ॥ क्षिति, अप्, तेज, मरुत, और आकाश ये पांच अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत हैं, इनके पंचीकरणसे पंचीकृत स्थूलभूत बनते हैं ॥ ११९ ॥ हे देवगण! यही दशविध भूत कहलाते हैं। मेरी त्रिगुणमयी प्रकृतिके स्वाभाविक परिणामकी सहायतासे पंचभूतोंकेद्वारा पांच कर्म्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय प्रकट होते हैं, इसप्रकारसे ये ही दशविध इन्द्रियां कहलाती हैं। हे देवगण! स्थूलसूक्ष्मभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्म्मेन्द्रिय और

स्थूलसूक्ष्माणि भूतानि व्याहृतानि दिवौकसः ! ।
ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्येवं मिलित्वा निखिलानि वै ॥ १२३ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि जायन्तेऽदितिनन्दनाः !
पूर्णं ज्ञानञ्च तत्त्वानां सर्वथा स्याच्छिवप्रदम् ॥ १२४ ॥
आस्तेऽलमन्तःकरण-चतुष्टय इह स्वतः ।
चित्तस्य मनसा सार्द्धं सम्बन्धः प्रबलो महान् ॥ १२५ ॥
तथाऽहङ्कारसम्बन्धः सार्द्धं बुद्ध्यैव विद्यते ।
आद्या मे प्रकृतिर्भिन्ना विद्याऽविद्यास्वरूपतः ॥ १२६ ॥
मनस्येवास्ति भो देवाः ! अविद्यानिलयस्तयोः ।
आविर्भवेत्तथा विद्या बुद्धावेव न संशयः ॥ १२७ ॥
अविद्यामोहिता अस्माज्जीवाः संसारजालके ।
मनोनिघ्नाः प्रसज्जन्ते दृढं पीयूषपायिनः ! ॥ १२८ ॥
विद्यासाहाय्यतो नूनं मद्भक्ता बुद्धिसेविताः ।
कर्म्मबन्धाद्विमुच्यन्तेऽनेकग्रन्थिदृढीकृतात् ॥ १२९ ॥
जीवप्रसूर्यदाऽविद्या जनयेत्स्वप्रभावतः ।
चिज्जडग्रन्थिमेतद्धि वपुः कारणमुच्यते ॥ १३० ॥

अन्तःकरणचतुष्टय, ये सब मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं, इनका ज्ञान सर्वथा मङ्गलकर है । ॥ १२०–१२४ ॥ अन्तःकरणचतुष्टयमेंसे चित्तका अत्यन्त प्रबल सम्बन्ध मनकेसाथ और अहङ्कारका सम्बन्ध बुद्धिके ही साथ स्वतः है । हे देवगण ! मेरी आद्या प्रकृतिके जो विद्या और अविद्यारूपसे दो भेद हैं, उनमेंसे अविद्याका निलय मनमें ही है और विद्याका अविर्भाव बुद्धिमें ही हुआ करता है, इसमें संदेह नहीं ॥ १२५–१२७ ॥ इसीकारण हे देवतागण ! अविद्यामोहित जीवगण मनके अधीन रहकर संसारजालमें अत्यन्त फंसे रहते हैं ॥ १२८ ॥ और मेरे भक्तगण बुद्धिसेवित होकर विद्याकी सहायतासे अनेक ग्रन्थियोंसे दृढ़ कर्म्मबन्धनसे अवश्य मुक्त हो जाते हैं ॥ १२९ ॥ जीवप्रसविनी अविद्या जब अपने प्रभावसे चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न करती है,

स्थूलैश्च पञ्चभिर्भूतैः स्थूलं निर्मीयते वपुः ।
परिशिष्टैस्तत्त्वजातैः सूक्ष्मो देहः प्रजायते ॥ १३१ ॥

एतद्देहत्रयस्यैव देवाः ! आवरणान्मम ।
स्वरूपं न प्रकाशेत शुद्धं नित्यमपि स्वयम् ॥ १३२ ॥

एतदेवास्ति देवेषु वर्णितश्च क्वचित्क्वचित् ।
पञ्चकोषाभिधानेन देवाः ! आवरणं ननु ॥ १३३ ॥

पञ्चभ्यः स्थूलभूतेभ्यः कोषो ह्यन्नमयो भवेत् ।
कोषादन्नमयादेव स्थूलमुत्पद्यते वपुः ॥ १३४ ॥

केवलोऽन्नमयः कोषः पतेन्मृत्युक्षणे सुराः ! ।
कोषस्यान्नमयस्यैव निरीक्ष्य परिवर्त्तनम् ॥ १३५ ॥

अज्ञास्तं जीववर्गस्य मृत्युमाहुर्विनाशकम् ।
मिलिताः पञ्च प्राणा मे सूक्ष्मशक्तिस्वरूपिणः ॥ १३६ ॥

पञ्चकर्मेन्द्रियैः सार्द्धं कोषः प्राणमयो भवेत् ।
असावेव सुपर्वाणः ! कोषः प्राणमयो महान् ॥ १३७ ॥

तो वही कारणशरीर कहलाता है ॥ १३० ॥ पंच स्थूलभूतका स्थूलशरीर निर्मित है और बाकी सब तत्त्वोंसे सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है ॥१३१॥ इन्हीं तीन शरीरोंके आवरणसे हे देवगण ! मेरे शुद्ध नित्य स्वरूपका भी प्रकाश स्वयं नहीं होता ॥ १३२ ॥ इन्हीं आवरणोंको वेदोंने कहीं कहीं पञ्चकोष करके भी हे देवगण ! वर्णन किया है ॥ १३३ ॥ पञ्च स्थूलभूतोंसे अन्नमय कोष उत्पन्न होता है, अन्नमयकोषसेही स्थूलशरीर बनता है ॥ १३४ ॥ हे देवगण ! मृत्युकालमें केवल अन्नमयकोषकाही पतन होता है और अन्नमय कोषकेही परिवर्त्तनको देखकर, उसको अज्ञानीलोग जीवनाशकारी मृत्यु कहते हैं। मेरी सूक्ष्म शक्तिरूपी पञ्च प्राण और पंच कर्मेन्द्रियां मिलकर प्राणमय कोष बनता है। यही महान् प्राणमय कोष हे देवतागण ! तुम्हारे सूक्ष्मलोक और

युष्माकं खलु लोकस्य सम्बन्धं मृत्युलोकतः।
अवस्थापयते नूनं द्वयोर्हि स्थूलसूक्ष्मयोः॥ १३८॥
मिलित्वा मनसा सार्द्धं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाण्यहो।
नाम्ना मनोमयं कोषं जनयन्तेतरां सुराः!॥ १३९॥
स्याद्विज्ञानमयः कोषो बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः समम्।
देवाः! मनोमयः कोषः कोषः प्राणमयस्तथा॥ १४०॥
विज्ञानमयकोषोऽपि सम्भूयैतत्त्रयं सह।
शरीरं प्राणिनां सूक्ष्मं समुत्पादयतेतराम्॥ १४१॥
शरीरं सूक्ष्ममेवाहो दशामेत्यातिवाहिकीम्।
अधिलोकान्तरं सर्व्वं शक्नुयाद्भ्रमितुं सुराः!॥ १४२॥
कारणाख्यवपुर्भूताऽविद्यायां नन्ववस्थितः।
प्रियमोदप्रमोदैर्हि भावैरेभिः समन्वितः॥ १४३॥
आत्मस्वरूपावरको देवाः! मलिनसत्त्वकः।
नाम्नाऽऽनन्दमयः कोषः कथ्यते वेदपारगैः॥ १४४॥
एतदेवास्ति जीवानां शरीरं कारणं ध्रुवम्।
चतुर्विंशतितत्त्वानामयं हेतुर्यतोऽस्त्यहो॥ १४५॥

स्थूल मृत्युलोकका सम्बन्ध स्थापन करना है। हे देवगण! मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर मनोमय कोष बनाते हैं॥ १२५-१३९॥ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि मिलकर विज्ञानमय कोष कहलाता है। हे देवगण! प्राणमय मनोमय और विज्ञानमयकोष, ये तीनों मिलकर प्राणियोंका सूक्ष्म शरीर बनता है॥ १४०-१४१॥ हे देवतागण! सूक्ष्मशरीर ही आतिवाहिक अवस्थाको धारण-करके सब लोकान्तरमें घूमनेका अधिकार प्राप्त करता है॥ १४२॥ हे देवगण! कारण शरीरभूत अविद्यामें स्थित, मलिन सत्त्व, आत्म-स्वरूपका अज्ञानरूप और प्रिय मोद और प्रमोद इन भावोंसे युक्त आनन्दमय कोष वेदपारगोंकेद्वारा कहा जाता है॥ १४३-१४४॥ निश्चय जीवोंका यही कारण शरीर है क्योंकि यही चौबीस

अविद्याऽऽवरणादेव मत्प्रधानस्वरूपयोः ।
स्वरूपं न प्रतीयेत कैश्चिज्जीवगणैरिह ॥ १४६ ॥
प्रतीत्यभाव एवास्ति स्वरूपस्य सुरोत्तमाः ! ।
सर्व्वेषां जीवजातानां कर्म्मबन्धनकारणम् ॥ १४७ ॥
विद्योपास्त्या यदा भक्ता ज्ञानिनो योगिनो मम ।
मत्प्रकृत्याः स्वरूपं नन्वित्थं तत्त्वविचारतः ॥ १४८ ॥
विदन्ति नितरां देवाः ! अहं भक्तांश्च तांस्तदा ।
प्रकृत्यैव स्वया सार्द्धं सायुज्यं ब्रह्मणो नये ॥ १४९ ॥
तदा मे ज्ञानिभक्तानां कर्म्मबन्धनरज्जवः ।
पावकैरिव सन्दग्धा जायन्ते बन्धनेऽक्षमाः ॥ १५० ॥
ज्ञानिनां मम भक्तानां देवाः ! विद्यास्वरूपिणी ।
विमुच्य प्रकृतिस्तेभ्यः कर्म्माणि निखिलानि वै ॥ १५१ ॥
स्वायत्तानि प्रकुर्वन्ती भक्तानङ्के च बिभ्रती ।
तत्कल्याणकदम्बश्च विधातुं लीयते मयि ॥ १५२ ॥

तत्त्वोंका कारण है ॥ १४५ ॥ हे देवतागण ! अविद्यावरणके कारण मेरी प्रकृतिका और मेरा स्वरूप किसी जीवको प्रतीत नहीं होता, ऐसा न होना ही सब जीवसमूहके कर्मबन्धनका कारण है ॥ १४६-१४७ ॥ परन्तु जब विद्याकी उपासनासे मेरा योगी ज्ञानी भक्त इस-प्रकार तत्त्वविचारद्वारा मेरी प्रकृतिका स्वरूप जान जाता है, हे देव-गण ! तब मैं अपनी प्रकृतिके सहित उन भक्तोंको निरन्तर ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त कराती हूँ ॥ १४८-१४९ ॥ मेरे ज्ञानी भक्तकेलिये कर्मरज्जु उस समय अग्निसे दग्ध रज्जुके समान बन्धनमें शक्तिहीन हो जाती है ॥ १५० ॥ हे देवगण ! विद्यारूपिणी प्रकृति मेरे ज्ञानी भक्तके सब कर्मोंको उससे छुड़ाकर अपने आयत्त करती हुई भक्तको अपने अङ्कमें धारण करके भक्तके कल्याणार्थ मुझमें विलीन हो जाती

उच्यते ब्रह्मसद्भावो भक्तसम्मेलनं मयि।
एतद्वः कथितं देवाः! ज्ञानविज्ञानमद्भुतम् ॥ १५३ ॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवी-देवसम्वादे ज्ञानविज्ञानयोगवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः।

***

है ॥ १५१-१५१ ॥ भक्तका मुझमें मिल जाना ही ब्रह्मसद्भाव कहलाता है। हे देवतागण! इस अद्भुत ज्ञान विज्ञानको आपलोगोंसे मैंने कहा है ॥ १५३ ॥

इति श्रीशक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी महादेवी-देवसम्वादात्मक योगशास्त्रका ज्ञानविज्ञानयोगवर्णन नामक षष्ठ अध्याय समाप्त।

विराड्रूपदर्शनविभूतियोगवर्णनम् ।

देवाऊचुः ॥ १ ॥

सर्व्वशक्त्याश्रये ! देवमातर्मुक्तिविधायिनि ! ।
भवती यत्कृपातो नस्तत्त्वज्ञानमुपादिशत् ॥ २ ॥

तज्ज्ञानेन जगन्मातरित्यस्माभिः प्रतीयते ।
साम्प्रतं यद्भवद्रूपं सम्पश्यामो वयं शिवे ! ॥ ३ ॥

विद्यतेऽस्मन्मनोभाववेगेनैवानुकल्पितम् ।
भवद्दयाप्रसूतश्च सौभाग्योपस्थितश्च तत् ॥ ४ ॥

तन्नो मातः ! कृपां कृत्वा रूपं तद्दर्शयाधुना ।
यस्मिंस्ते ज्ञानिनो भक्ता निरीक्ष्य भवतीं मुहु ॥ ५ ॥

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति परमानन्दसागरे ।
सार्थकं जन्म कुर्वन्ति कृतकृत्या भवन्ति च ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे देवजननी ! हे जीवमुक्तिविधायिनी ! हे सर्व्वशक्तिमयी ! आपने जो कृपा करके हमको तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया ॥ २ ॥ उस ज्ञानसे हमलोगोंको हे जगन्मातः ! यही प्रतीत होता है कि, इस समय जो हम आपका रूप देख रहे हैं, सो हे शिवे ! केवल हमारे मनोभावोंसे कल्पित और आपकी अपार कृपासे प्रसूत एवं सौभाग्यसे प्राप्त है ॥ ३-४ ॥ इसकारण हे मातः ! अब वह रूप कृपा करके हमको दिखाइये, जिसमें आपके ज्ञानीभक्त आपको देखकर परमानन्दसागरमें वारंबार उन्मज्जन निमज्जन करते है, जन्मको सार्थक करते हैं और कृतकृत्य होते हैं ॥ ५-६ ॥

महादेव्युवाच ॥ ७ ॥

भवद्भक्त्यधिकाराभ्यां प्रसन्नाहं ददामि वः ।
दिव्यं चक्षुर्ममैवैतद्विराड्रूपं प्रपश्यत ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः ॥ ९ ॥

मातर्वयं विस्मयमावहामः
मोदे कदाचिन्नितरां पतामः ।
क्षणेऽपरे साध्वसमाश्रयामो-
यदेक शक्त्या प्रकटत्वमेत्य ॥ १० ॥
त्वं वाङ्मनोबुद्धिभिरप्रमेया
सुखं धरन्ती दशसंख्यकाभिः ।
अनाद्यनन्ताभिरहो दिशाभि-
र्विभासि पूर्णं किल देशरूपम् ॥ ११ ॥
स्वस्याश्च मन्ये स्वयमेव शक्ते-
राद्यन्तशून्यं जनकस्वरूपम् ।
मातर्महाकालममुं जनित्वा
सार्द्धञ्च तेनैव विहर्त्तुमुत्का ॥ १२ ॥

महादेवी बोली ॥ ७ ॥

मैं आपकी भक्ति और आपके अधिकारसे प्रसन्न होकर आपको दिव्य चक्षु प्रदान करती हूँ, आप मेरे इस विराट् रूपको देखें ॥ ८ ॥

देवतागण बोले ॥ ९ ॥

हे मातः ! हम अतिचमत्कृत हुए हैं, कभी हम आनन्दमें गोता खाते हैं और दूसरे क्षणमें भयको पाते हैं, वाक् मन बुद्धिसे अतीत आप एक शक्तिरूपसे प्रकट होकर अनादि अनन्त दश दिशाओंसे पूर्ण देशरूपको सुखसे धारण करती हुई शोभती हो ॥ १०-११ ॥ हे मातः ! आपकी मानो अपनी शक्तिसे आदि अन्तरहित पितृरूप इस महाकालको उत्पन्न करके उसीकेसाथ विहार करनेको प्रवृत्त हुई

अनाद्यनन्तं तव देवि! रूप-
द्वयं महाकालसुदेशरूपम्।
वाणीमनोबुद्धिबला- दतीतं
मन्यामहेऽस्तीति विभुस्वरूपम्॥ १३॥

अनाद्यनन्तौ किल कालदेशौ
व्याप्तस्य नूनं प्रतिरोमकूपम्।
विराट्शरीरस्य तवैव भान्ति
ब्रह्माण्डसङ्घा अमिता महान्तः॥ १४॥

ब्रह्माण्डप्रत्येक- प्रबन्धमध्ये
पश्याम आत्मानमहो पृथक् पृथक्।
दृष्टिर्न सर्वत्र न एति यद्यपि
परन्तु यत्रैव समेति तत्र हि॥ १५॥

ब्रह्माण्डसङ्घान्यतमे पुनर्वयं
ब्रह्माणमीशञ्च हरिञ्च देवान्।
सर्गस्थितिप्रत्यवहारसक्तान्
पृथक् पृथक् तानवलोकयामः॥ १६॥

हो॥ १२॥ हे देवि! आपके देश और काल दोनों रूपही आदि अन्त रहित और वाणी मन बुद्धिके बलसे अगोचर और विभु हैं, इस बातको हम मानते हैं॥ १३॥ आपके ही अनादि अनन्त देश और अनादि अनन्त कालव्यापी विराट् शरीरके प्रतिरोमकूपमें अगणित महान् ब्रह्माण्डसमूह देदीप्यमान हो रहे हैं॥ १४॥ अहो! प्रत्येक ब्रह्माण्डके प्रबन्धमें हम अपनेको पृथक् पृथक् रूपसे देख रहे हैं। यद्यपि हमारी दृष्टि सब जगह नहीं पहुँचती है; परन्तु जिस ब्रह्माण्डमें पहुँचती है, वहीं पुनः हम पृथक् पृथक् रूपसे सृष्टि स्थिति और प्रलय कार्य्यमें आसक्त विधि हरि हर तथा अपनेको देख रहे

ब्रह्माण्डमेकैकमहो विशालम्
भूतव्रजानाञ्च चतुर्विधानाम्।
आच्छादितं खल्वमितैश्च पिण्डैः
पश्याम आश्चर्य्यमयं विचित्रम्॥ १७॥

ब्रह्माण्डसङ्घेष्वखिलेषु मातः!
दृष्ट्वा च देवर्षिपितॄननेकान्।
तथा च नानाविधमर्त्यवर्गान्
पृथक्तया नश्चकिताऽस्ति बुद्धिः॥ १८॥

यदा तु सङ्ख्यातुमहो न शक्यते
अनाद्यनन्ते वपुषि स्थितस्तव।
ब्रह्माण्डसङ्घोऽपि तदास्ति का कथा
पिण्डव्रजस्यामितकेन्द्रभाजिनः॥ १९॥

ब्रह्माण्डप्रत्येकविभागमध्ये
सूर्य्याग्निचन्द्रात्मकमस्ति मातः!।
नेत्रत्रयं ते विमलं विशालं
त्वं येन दृष्ट्वा हरसि त्रितापम्॥ २०॥

हैं॥ १५-१६॥ हम सब, विशाल ब्रह्माण्डोंकोही चतुर्विध भूतसङ्घके अगणित पिण्डोंसे आच्छादित, आश्चर्य्यमय और विचित्र देख रहे हैं।॥१७॥ हे मातः! सब ब्रह्माण्डोंमें पृथक् पृथक् रूपसे ऋषिसमूह, पितृसमूह देवतासमूह और नानाप्रकारकी मनुष्यश्रेणियोंको देखकर हमारी बुद्धि चकित हो रही है॥ १८॥ अहो! जब आपके अनादि अनन्त वपुमें स्थित ब्रह्माण्डोंकी ही गणना नहीं हो सकती, तो अनेक केन्द्र वाले पिण्डोंकी गणना कौन कर सकता है॥ १९॥ प्रत्येक ब्रह्माण्ड-के विभागमें सूर्य्य अग्नि और चन्द्ररूपसे हे मातः! आपके विमल और विशाल त्रिनेत्र विद्यमान हैं, जिनसे देखकर आप (जगत्का)

व्याप्नोति मूर्द्धा तव चोद्र्ध्वलोक-
मधःस्थलोकञ्चरणद्वयन्ते ।
ब्रह्माण्डसङ्घस्य हि तस्य याव-
दाकाशमास्ते तव कर्णपुञ्जः ॥ २१ ॥

त्वचो हि यावत्पवनं त्वदीया-
श्चक्षुर्व्रजस्तेऽस्ति च यावदग्नि ।
यावज्जलं ते रसना रसज्ञा
यावत्क्षिति घ्राणसमूहः आस्ते ॥ २२ ॥

अतश्च मातस्त्वमनन्तकर्णा
ह्यसङ्ख्यकत्वग्भिरथावृताऽसि ।
अनन्तनेत्राऽमितलोलजिह्वा
त्वनन्तनासा स्वत एव भासि ॥ २३ ॥

आनन्त्यहेतोश्च दिशां दशाना-
मनन्तपादा त्वमनन्तबाहुः ।
अस्माकमम्ब ! त्वमनन्तरूपा
नेत्रावलीगोचरतामुपैषि ॥ २४ ॥

त्रिताप दूर करती हैं ॥ २० ॥ आपका मस्तक ऊद्ध्र्वलोकमें व्याप्त और आपके पदद्वय अधोलोकमें व्याप्त हो रहे हैं। इस ब्रह्माण्डसङ्घके आकाशभरमें आपका कर्णसमूह है ॥ २१ ॥ वायुभरमें त्वचा, तेजभरमें चक्षु, जहाँ जहाँ जल है, वहाँ वहाँ रसज्ञा रसना और पृथिवीभरमें नासिका व्याप्त हो रही है ॥ २२ ॥ इसमें हे मातः! आप स्वतः ही अनन्त कर्णविशिष्ट, अनन्त त्वचाविशिष्ट, अनन्त नेत्रविशिष्ट, अनन्त रसनाविशिष्ट और अनन्तः नासिकाविशिष्ट प्रतीत होती हो ॥ २३ ॥ दशों दिशाओंकी अनन्तताकी हेतु हे मातः! आप अनन्त पाद अनन्त बाहु और अनन्त रूपमें देखने-

विराड्वपुस्ते प्रसमीक्ष्य माता!
अनन्तमाश्चर्य्यमयं मनो नः।
विमुह्यते धीः स्थगिता च नोऽस्ति
सर्वेन्द्रियौघः शिथिलायते च ॥ २५ ॥
त्वद्दत्तनेत्रैश्च विलोकयामो
ह्यगाधशक्तेर्जगदम्बिके ! ते।
नादिर्न चान्तो न च मध्यमस्ति
विद्मो वयं त्वां धृतशक्तिसङ्घाम् ॥ २६ ॥
सशक्तिशक्त्योर्न च भेदकल्पना
भवत्यहो क्वाऽपि सुधीरसंसदि।
तवैव शक्तेश्च विलासमात्रतां
विराड्वपुस्ते वहते निरन्तरम् ॥ २७ ॥
ईक्षामहेऽद्याऽखिलविश्वमातः!
यत् सच्चिदानन्दमयस्वरूपात्।
केन्द्रात्स्वतो भावमयाद्भवत्या
उत्पद्य शक्तिः किल चिन्मयीयम् ॥ २८ ॥

में आती हैं ॥ २४ ॥ हे मातः ! आपके अनन्त और आश्चर्य्यमय विराट् शरीरको देख हमारा मन विमुग्ध और बुद्धि थकित हो रही है तथा सब इन्द्रियाँ शिथिल होती जाती हैं ॥ २५ ॥ आपके दिये हुए दिव्यचक्षुद्वारा हम देख रहे हैं कि हे मातः ! आपकी अगाध शक्तिका न आदि है, न मध्य है और न अन्त है, इसकारण आपही शक्तिमती हो, ऐसा हम लोग समझते हैं ॥ २६ ॥ शक्ति और शक्तिमान्में भेद-कल्पना किसी विद्वत्समाजमें असम्भव है, अहो ! आपका यह विराट् देह आपकी शक्तिकाही विलासमात्र है ॥ २७ ॥ हे जगन्मातः ! अब हम देखते हैं कि, आपके सच्चिदानन्दरूपी भावमय केन्द्र-से यह चिन्मयी शक्ति अपने आपही प्रकट होकर, जिसमें अनेक

चतुर्दशाहो भुवनानि यत्र
विभान्त्यनेकानि महान्ति तस्य।
ब्रह्माण्डसङ्घस्य करोति नित्यं
सर्गस्थितिप्रत्यवहारकार्य्यम् ॥ २९ ॥

तत्राप्यनन्तान् किल जीवपिडां-
श्चतुर्विधैर्भूतगणैः सुयुक्तान्।
अनेककेन्द्रेषु पृथग्विभक्तान्
विलापयन्ती जनयन्त्यवन्ती ॥ ३० ॥

हठादसंख्यान् स्वत एव जीवान्
वध्नात्यविद्यादृढ़पाशवन्धैः।
भूयस्ततस्तानपि पाशवद्धान्
विद्याप्रदानेन करोति मुक्तान् ॥ ३१ ॥

पुनश्च तान् पाशविमुक्तजीवान्
सम्मेल्य नैजे परमस्वरूपे।
ब्रह्मप्रमोदे सुनिमज्जयन्ती
ततश्च तान् दर्शयते स्वरूपम् ॥ ३२ ॥

बड़े २ चतुर्दश भुवन शोभते हैं, ऐसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि स्थिति और लय नित्य करती है ॥ २८-२९ ॥ उन ब्राह्माण्डोंमें भी चतुर्विध भूतसङ्घयुक्त नाना केन्द्रोंमें पृथक्-पृथक् विभक्त अगणित जीव पिण्डोंकी सृष्टि स्थिति और लय करती हुई स्वतः ही असंख्य जीवोंको हठात् अविद्यारूपी दृढ़ पाशबन्धनसे बाँध देती है और पुनः विद्याप्रदान करके पाशबद्ध उन जीवोंको मुक्त करती है ॥ ३०-३१ ॥ फिर भी पाशमुक्त उन जीवोंको अपने परमस्वरूपमें मिलाकर ब्रह्मानन्दमें डुबाती हुई उनको अपने स्वरूपका दर्शन करादेती है ॥ ३२ ॥

शक्तिर्यतः सा प्रकटत्वमेत्य
त्वनन्तवैचित्र्यमयं स्वरूपम्।
धरन्त्यसङ्ख्यं विविधञ्च मातः!
एकाऽद्वितीयं पुनरेति रूपम्॥ ३३॥

एकाऽद्वितीयं सुविधृत्य रूपम्
लिनाति तत्र प्रभवे स्वकीये।
अस्याश्च शक्तेर्न रहस्यमेत-
द्विद्मो वयं मूर्च्छति धीर्हि नोऽद्य॥ ३४॥

तवैव शक्तिश्च बिभर्ति दैवं
राज्यं सुसूक्ष्मं जगदम्बिके! नः।
स्थूलं हि लोकं किल मानवानाम्
बिभर्त्ति नित्यं सचराचरञ्च॥ ३५॥

ब्रह्माण्डपिण्डेषु चतुर्दशैव
व्याप्तान्यहो यद्भुवनानि भान्ति।
त्वच्छक्तिपुञ्जस्य परात्परस्य
विलासमात्राणि च केवलानि॥ ३६॥

वह शक्ति जहाँसे प्रकट होती है, अनन्त वैचित्र्यमय असंख्य और विविधरूपको धारण करती हुई हे मातः! पुनः एक अद्वितीय रूपको प्राप्त हो जाती है॥ ३३॥ और एक अद्वितीय रूप धारण करके उसी अपने उत्पत्तिस्थानमें लय हो जाती है। इस शक्तिका यह रहस्य हमलोग नहीं समझ रहे हैं, इस समय हमलोगोंकी बुद्धि मूर्च्छित हो रही है॥ ३४॥ हे जगन्मातः! आपकी ही शक्ति हमलोगोंके सुसूक्ष्म दैवीराज्यको धारण किये हुई है और आपकी ही शक्ति इस चराचर स्थूल मनुष्लोकको भी नित्य धारण किये हुई है॥ ३५॥ अहो! ब्रह्माण्डोंमें और पिण्डोंमें जो चतुर्दश भुवन व्याप्त हैं, वे केवल आपके परात्पर शक्तिपुञ्जके ही विलासमात्र हैं॥ ३६॥ हे मातः!

एकाऽद्वितीया तव शक्तिरम्बिके !
स्थूलश्च सूक्ष्मं च नु कारणश्च नः।
रूपं धरन्ती परिदर्शयत्यहो
अनाद्यनन्तं सुविराड्वपुस्तव ॥ ३७ ॥

मात स्तवानन्त- मुखीमनन्त-
नेत्रा मनन्तश्रुति- शीर्षजुष्टाम्।
अनन्तनासोदर- बाहुपादां
धीर्नो विराड्मूर्त्तिमभीक्ष्य सन्ना ॥ ३८ ॥

विराडरूपं दिव्यं प्रतिपल महो देवजननि !
वयं नैवालं तेऽनुभवितुमदो विस्मयकरम्।
यतोरूपं दृष्ट्वाऽद्भुतमतिविशालञ्च नितरां
धियो मूर्छां भेजुः किमुत मनआदीन्द्रियगणः ॥ ३९ ॥

कृपां कृत्वाऽतोऽस्मानतितरमनोज्ञं सुखकरं
प्रदर्श्य स्वं रूपं ह्युपदिश तदेवं त्वमधुना।

आपकी एक अद्वितीय शक्ति स्थूल सूक्ष्म और कारणरूपको धारण करती हुई अहो ! इस अनादि अनन्त आपके विराट् वपुका हम लोगोंको दर्शन करा रही है ॥ ३७ ॥ हे जगन्मातः ! आपकी इस अनन्त शिर, अनन्त नेत्र, अनन्त मुख, अनन्त कर्ण, अनन्त नासिका, अनन्त बाहु, अनन्त उदर और अनन्त पदविशिष्ट विराट् मूर्तिको देखकर हमारी बुद्धि मूर्च्छित हो रही है ॥ ३८ ॥ हे देवजननी ! आपके इस दिव्य और विस्मयकर विराट् रूपको अहो ! हम प्रतिक्षण अनुभव करनेमें असमर्थ हैं क्योंकि इस अद्भुत और अत्यन्त विशालरूपके दर्शन करते करते मनआदि इन्द्रियोंकी तो बात ही नहीं बुद्धितक अत्यन्त मूर्च्छित हो जाती है ॥ ३९ ॥ इसकारण आप कृपा करके अतितर मनोहर और सुखकर अपने पूर्वरूपमें ही हमको दर्शन देकर इस समय ऐसा उपदेश दीजिये,

प्रपञ्चे दृश्येऽनुक्षणमथ वयं येन भवती-
मलं द्रष्टुं देशे निखिलसमये पात्रनिवहे ॥ ४० ॥

वयं देवि! त्वत्तो यदधिकतरं साग्रहमिति
जनन्युक्तं कुर्म्मो विनयमति तत्कारणमहो ।
असामर्थ्यं नूनं भगवति! विजानीत च ततः
क्षमस्व प्रागल्भ्यं विहितमधुना यद्भ्रमवशात् ॥ ४१ ॥

महादेव्युवाच ॥ ४२ ॥

इदानीं सुगमोपायं पुरो वो वर्णयाम्यहम् ।
निःशेषं मद्धितं वाक्यं शान्तचित्तैर्निशम्यताम् ॥ ४३ ॥

विराड्रूपानुभूतिर्मे कर्त्तुं चेन्नैव शक्यते ।
मद्गुणादिप्रभेदेषु दृश्येऽहं च विभूतिषु ॥ ४४ ॥

व्याप्तास्म्यहञ्च दृश्येषु मूर्त्तित्रितयरूपतः ।
अहमेव त्रिदेवाश्च विधिविष्णुशिवात्मकाः ॥ ४५ ॥

जिससे हम आपको इस दृश्यप्रपञ्चमें रहकर सब देश काल पात्रमें प्रतिक्षण दर्शन करनेमें समर्थ हों ॥ ४० ॥ हमारी अत्यन्त साग्रह इस प्रार्थनामें हे भगवति! हे देवि! हे मातः! हमारी असमर्थता ही कारण है, सो कृपाकर जानिये, इसकारण हम क्षमाप्रार्थी हैं । हमारी प्रगलभता-को क्षमा किया जाय, जो हमने भ्रमवश इस समय की है ॥ ४१ ॥

महादेवी बोली ॥ ४२ ॥

अब मैं आप लोगोंको सुगम उपायका उपदेश देती हूँ, शान्तचित्त होकर मेरी सब हितकी बातोंको सुनो ॥ ४३ ॥ आप यदि मेरे विराट् रूपके अनुभव करनेमें असमर्थ ही हों, तो मेरेगुणादि भेदमें और मेरी विभूतियोंमें मेरा दर्शन करो ॥ ४४ ॥ मैं ही त्रिमूर्ति रूपसे दृश्यमें व्याप्त हूँ, मैं ही ब्रह्माविष्णुमहेशरूपी त्रिदेव हूँ ॥ ४५ ॥

देवर्षिपितृरूपाश्च तिस्रोऽधिष्ठातृदेवताः ।
अहमस्मि च भो देवाः ! नित्या नैमित्तिका ध्रुवम् ॥ ४६ ॥
धर्मस्य त्रिविधैरङ्गैरहमेव दिवौकसः ! ।
निःश्रेयसं मनुष्येभ्योऽभ्युदयश्च ददे पदम् ॥ ४७ ॥
अहमेवास्मि हे देवाः ! भावत्रयस्वरूपभाक् ।
येन भावत्रयेणाहं ज्ञानचक्षुर्ददत्यलम् ॥ ४८ ॥
अधिकारं त्रिनेत्रस्य दत्त्वा जीवेभ्य एव च ।
प्रापयामि शिवस्याशु पदवीं तानसंशयम् ॥ ४९ ॥
शक्तिर्ममैव दानानि व्याप्नोति त्रिविधानि च ।
तपस्विनोऽधिगच्छन्ति तपोभिस्त्रिविधैः सुराः ! ॥ ५० ॥
कायवाणीमनोजन्यैर्दैवीं शक्तिं ममैव तु ।
अहमेवत्रिधा यज्ञास्त्रिगुणैरहमेव च ॥ ५१ ॥
सम्पादयामि ब्रह्माण्ड-सृष्टिस्थितिलयक्रियाः ।
अहं देहश्च पिण्डाख्यं पायां शक्तित्रयेण वै ॥ ५२ ॥

हे देवगण ! नित्यनैमित्तिक रूपसे मैं ही ऋषिदेवतापितृरूपी त्रि-अधिष्ठातृ देवता हूँ ॥ ४६ ॥ हे देवतागण ! धर्म्मके त्रिविध अङ्गोंके-द्वारा मैं ही मनुष्योंको अभ्युदय और निःश्रेयसपद प्रदान करती हूँ ॥ ४७ ॥ हे देवगण ! भावत्रय मैं ही हूँ, जिनकेद्वारा मैं ज्ञानचक्षु प्रदान करके त्रिनेत्रका अधिकार देकर जीवको शिवकी पदवी निःसन्देह प्रदान करती हूँ ॥ ४८–४९ ॥ त्रिविध दानमें मेरी ही शक्ति व्याप्त है। हे देवगण ! कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध तपकेद्वारा तपस्विगण मेरी ही दैवी शक्तिको प्राप्त करते हैं। त्रिविध यज्ञ मैं ही हूँ। मैं ही त्रिगुणरूपसे ब्रह्माण्डका सृष्टिस्थितिलय विधान करती हूँ। मैं ही त्रिगुणात्मक वात, पित्त, कफरूपी त्रिविध शक्तिसे पिण्ड-की सुरक्षा करती हूँ। हे देवतागण ! ऋग् यजुः और सामरूप वेदत्रय

गुणत्रयात्मकश्लेष्म-वातपित्तात्मकेन ह।
अहं वेदत्रयी देवाः! ऋग्यजुःसामलक्षणा ॥ ५३ ॥
प्रोक्ता या त्रिविधा भाषा निगमागमशास्त्रयोः।
लौकिकी परकीया च समाधिनामिका तथा ॥ ५४ ॥
तद्द्वारेणाहमेवाशु सम्प्रकाश्य जगद्गुरोः।
रूपमस्यां जगत्यां तु धर्म्मज्ञानं प्रकाशये ॥ ५५ ॥
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणाः।
तिस्रो रात्र्योऽहमेवास्मि जीवमोहविधायिकाः ॥ ५६ ॥
सन्ध्यास्तिस्रोऽहमेवास्मि तमःसत्त्वप्रभेदतः।
एताः सकामनिष्काम-भेदाभ्यां द्विविधाः स्मृताः ॥ ५७ ॥
अहं दिवात्रयश्चास्मि ह्यात्मज्ञानप्रकाशकम्।
आध्यात्मिकेऽहमेवालं नूनमुक्तदिवात्रये ॥ ५८ ॥
हृदये ज्ञानिभक्तानां चित्कलापूर्णरूपतः।
प्रकाशेऽनुक्षणं देवाः! नात्र कश्चन संशयः ॥ ५९ ॥
लौहत्रयस्वरूपेण स्वभक्तेभ्यो निरन्तरम्।
ददामि देहनैरुज्यमहमेव न संशयः ॥ ६० ॥

मैं ही हूँ ॥ ५० ॥ वेद और शास्त्रोंकी लौकिकी, परकीया और समाधि नामक त्रिविध भाषा जो कही गयी है, उसकेद्वारा मैं ही जगद्-गुरुका रूप शीघ्र प्रकट करके इस जगत्में धर्मज्ञानको प्रकाश करती हूँ ॥ ५४–५५ ॥ कालरात्रि मोहरात्रि और महारात्रिरूपी दारुण त्रिरात्रि मैं ही हूँ, जो जीव विमोहकारिणी हैं ॥ ५६ ॥ त्रिसंध्या मैं ही हूँ, सत्त्व और तमके भेदसे, निष्काम और सकामके भेदसे, वे संध्या द्विविध होती हैं ॥ ५७) हे देवतागण! आत्मज्ञान प्रकाशक दिवात्रय भी मैं ही हूँ। उक्त तीन आध्यात्मिक दिनोंमें मैं ही अपनी चित्कलाके पूर्णस्वरूपमें भलीभाँति ज्ञानी भक्तोंके हृदयमें अनुक्षण अवश्य प्रकाशित रहती हूँ, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ५८–५९ ॥ लौहत्रयके रूपमें मैं ही निःसन्देह अपने भक्तोंको शरीरका नैरोग्य निरन्तर

व्याधित्रयं महाघोरमहमेवास्मि निर्जराः!।
चिकित्सा त्रिविधा चाहमेव तस्यापनोदिका ॥ ६१ ॥

ऊर्द्ध्वाधोमध्यलोकाख्य-लोकश्रेणीत्रयं सुराः!।
व्याप्नुवन्त्यहमेवैताञ्जीववर्गान् पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

आवागमनचक्रेषु सम्परिभ्रामयामि च।
अहं त्रिगुणभेदेन जीवकर्म्मानुसारतः ॥ ६३ ॥

मूढ़ानां मानवानाञ्च युष्माकञ्चैव योनिषु।
त्रिविधानधिकारान् हि तेभ्यः सम्प्रददे ध्रुवम् ॥ ६४ ॥

अहमेवोच्चजीवेषु पूर्णशक्तियुतेषु हि।
आसुरं राक्षसञ्चैव दैवं भावञ्च बिभ्रती ॥ ६५ ॥

तेभ्यो हि पूर्णजीवेभ्यो ददामि त्रिविधं फलम्।
जैवैशसहजाख्यैर्वै विश्वं व्याप्तास्मि कर्म्मभिः ॥ ६६ ॥

कारणस्थूलसूक्ष्माख्यैः शरीरैस्त्रिविधैरहम्।
जीवानां ननु जीवत्वविधानं विदधे सुराः! ॥ ६७ ॥

प्रदान करती हूँ ॥ ६० ॥ हे देवगण! तीन प्रकारकी महाघोर व्याधि मैं हूँ और व्याधि दूर करनेवाली तीनप्रकारकी चिकित्सा मैं ही हूँ ॥ ६१ ॥ हे देवगण! ऊर्द्ध्व मध्य और अधोलोकरूपी त्रिविध लोक-श्रेणीमें मैं ही व्याप्त रहकर इन जीवोंको वारंवार आवागमन चक्रोंमें परिभ्रमित करती हूँ। त्रिगुण भेदसे मैं ही मूढयोनि, मनुष्ययोनि और देवयोनियोंमें जीवोंके कर्म्मोंकेअनुसार उनको त्रिविध अधिकार अवश्य ही प्रदान करती हूँ ॥ ६२–६४ ॥ पूर्णशक्तियुक्त उन्नतजीवोंमें मैं ही दैव आसुर और राक्षस भावको धारण करती हुई उन पूर्ण जीवों-को त्रिविध फल प्रदान करती हूँ। जैव ऐश और सहज कर्म्मरूपसे मैं ही जगत्‌में व्याप्त हूँ ॥ ६५–६६ ॥ स्थूल सूक्ष्म कारणनामक त्रिविध शरीर रूपसे हे देवगण! मैं ही जीवोंका जीवत्व विधान करती हूँ ॥६७॥

सर्व्वास्त्रिगुणसम्बन्धादुत्पन्नाश्चित्तवृत्तयः ।
अहमेवास्मि भो देवाः ! पदार्थेष्वखिलेषु च ॥ ६८ ॥
त्रिगुणानां विकासा ये तेषु यद्यच्च दर्शनम् ।
त्रिभावैर्जायते तेषां तानि सर्व्वाण्यहं सुराः ! ॥ ६९ ॥
ममैव दयया देवाः ! मद्भक्तास्ते निरन्तरम् ।
ब्रह्मेश्वरविराड्रूप-भावेषु त्रिविधेषु वै ॥ ७० ॥
सर्वथा दर्शनं कृत्वा कृतकृत्या भवन्ति मे ।
जीवशान्तिप्रदश्चास्मि प्रसादत्रयमुत्तमम् ॥ ७१ ॥
कृष्णशुक्ले तथा देवाः सहजेति गतित्रयम् ।
अहमेवाऽस्मि शुभदं सत्यमेतन्न संशयः ॥ ७२ ॥
त्रिविधाश्च सदाचारा अहमेव न संशयः ।
एतत्सर्व्वं ममैवास्ति त्रिभावात्मकवैभवम् ॥ ७३ ॥
परं यथार्थतस्त्वेकाऽद्वितीयाहं न संशयः ।
अन्ये भेदाश्च भो देवाः ! श्रूयन्तां सप्तधा मम ॥ ७४ ॥

हे देवगण ! अन्तःकरणकी सब त्रिगुणसम्बन्धीय वृत्तियां मैं ही हूँ और सब पदार्थोंमें त्रिगुणका जो जो विकास और उनमें त्रिभावसे त्रिगुणका जो जो दर्शन होता है, वे सब मैं ही हूँ ॥ ६७–६९ ॥ और हे देवगण ! मेरी ही कृपासे मेरे भक्त, ब्रह्म ईश और विराट्रूपी त्रिविध भावमें मेरा दर्शन करके सर्व्वथा कृतकृत्य होते हैं। जीवोंकी शान्तिदेनेवाले तीनोंप्रकारके उत्तम प्रसाद मैं ही हूँ ॥ ७०–७१ ॥ हे देवतागण ! कृष्ण शुक्ल और सहज, मङ्गलकर ये तीन गतियां मैं ही हूँ, यह सत्य है। इसमें सन्देह नहीं ॥७२॥ त्रिविध सदाचार मैं ही हूँ। इसमें भी सन्देह नहीं, ये सब मेरे ही त्रिभावात्मक वैभव हैं ॥ ७३ ॥ परन्तु वास्तवमें मैं निःसन्देह एक और अद्वितीय हूँ। हे देवतागण ! मेरे सात

स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चेषु व्याप्तास्मि सप्तरूपतः।
अज्ञानज्ञानयोरस्मि भूमयः सप्त सप्त च ॥ ७५ ॥
उद्‌र्ध्वलोकाश्च ये सप्त ह्यधोलोकाश्च सप्त ये।
अहमेवास्मि ते सर्वे सप्त प्राणास्तथैव च ॥ ७६ ॥
सप्त व्याहृतयः सप्त समिधः सप्त दीप्तयः।
अहमेवास्मि भो देवाः! सप्त होमा न संशयः ॥ ७७ ॥
वारा वै सप्त भूत्वाथ कालं हि विभजाम्यहम्।
सप्तभूम्यनुसारेण ज्ञानस्य त्रिदिवौकसः! ॥ ७८ ॥
सप्त ज्ञानाधिकाराश्चोपासनायास्तथैव ते।
सप्त कर्म्माधिकाराश्च सर्व्वे तेऽस्म्यहमेव भोः ॥ ७९ ॥
सप्तचक्रविभेदेषु प्राणावर्त्तात्मकेष्वहम्।
पीठानां स्थापनं कार्य्यमाविर्भूय करोमि च ॥ ८० ॥
कृष्णरक्तादिका वर्णा भूत्वा च सप्तसङ्ख्यकाः।
अहमेव जगत्सर्व्वं नितरां सम्प्रकाशये ॥ ८१ ॥

प्रकारके भेद और सुनिये ॥ ७४ ॥ मैं सप्तरूपसे स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें परिव्याप्त हूँ। सप्त ज्ञानभूमि मैं हूँ और सप्त अज्ञानभूमि भी मैं हूँ ॥ ७५ ॥ जो सप्त उद्‌र्ध्वलोक और सप्त अधोलोक हैं, वे सब मैं ही हूँ और उसीप्रकार हे देवगण! सप्त प्राण, सप्त दीप्ति, सप्त समिधा, सप्त होम और सप्त व्याहृति, निश्चय मैं ही हूँ ॥ ७६-७७ ॥ और सप्त दिन होकर मैं ही कालको विभक्त करती हूँ। हे देवगण! ज्ञानकी सप्तभूमिकाकेअनुसार सप्त ज्ञानाधिकार, उपासनाके सप्त अधिकार और कर्म्मके सप्त अधिकार ये सब मैं ही हूँ ॥ ७८-७९ ॥ प्राणावर्त्तरूपी सप्तप्रकार चक्रोंमें मैं आविर्भूत होकर पीठ स्थापन करती हूँ ॥ ८० ॥ कृष्ण रक्तआदि सप्त रंग होकर मैं ही सम्पूर्ण जगत्को निरन्तर प्रकाशित करती हूँ ॥ ८१ ॥ पुनः मैं

सप्तच्छायास्वरूपेण पुनश्चाहमिदं जगत्।
गभीरध्वान्तपुञ्जेन सर्व्वमाच्छादयामि च ॥ ८२ ॥
लौकिकं भावराज्यञ्च सप्तगौणरसैरहम्।
व्यनज्मि, साधकान् भूयः सुदिव्येऽलौकिके रसे ॥ ८३ ॥
सप्तमुख्यरसैरेवोन्मज्जये च निमज्जये।
जीवानां स्थूलदेहेषु व्याप्तास्मि सप्तधातुभिः ॥ ८४ ॥
जीवाधारक्षितावस्यां व्याप्तास्मि च तथैव तैः।
मद्वाचकस्य भो देवाः! प्रणवस्य निरन्तरम् ॥ ८५ ॥
सप्ताङ्गानि स्वराः सप्त सम्भूयोत्पादयन्ति च।
सृष्टिं शब्दमयीं सर्व्वां वैदिकीं लौकिकीं तथा ॥ ८६ ॥
तीर्थानां सप्त भेदा वै पीठानाञ्च दिवौकसः!।
अनार्य्यमानवानाञ्च सप्त भेदा यथोदिताः ॥ ८७ ॥
सप्ताधिकारा ये देवाः! आर्य्यजातेः प्रकीर्त्तिताः।
सप्तस्थूलप्रपञ्चस्य शक्तयश्चाहमेव ताः ॥ ८८ ॥

सप्त छायारूपसे इस सम्पूर्ण जगत्को निविड़ तमसमूहसे आच्छन्न कर देती हूँ ॥ ८२ ॥ सप्त गौणरसरूपसे मैं लौकिक भावराज्यको प्रकट करती हूँ और पुनः सप्त मुख्यरसोंकेद्वारा ही मैं अलौकिक सुदिव्य रसोंमें साधकोंको उन्मज्जन निमज्जन कराती हूँ। सप्तधातुद्वारा मैं जीवोंके स्थूलदेहोंमें व्याप्त हूँ ॥ ८३-८४ ॥ और उसीप्रकार सप्तधातु द्वारा मैं जीवाधार इस पृथिवीमें परिव्याप्त हूँ। हे देवगण! मेरे वाचक प्रणवके सप्त अङ्ग सप्त स्वर होकर सकल वैदिक और लौकिक शब्दमयी सृष्टिको निरन्तर उत्पन्न करते हैं॥८५-८६॥ हे देवतागण! तीर्थोंके सप्त भेद, पीठोंके सप्त भेद, अनार्य्य मनुष्योंके सप्तभेद, आर्य्यजातिके सप्त अधिकार और स्थूलप्रपञ्चकी सप्त शक्तियाँ, ये सब मैं ही हूँ ॥ ८७-८८ ॥ हे देवतागण! सर्वदा सप्तसागररूपसे मैंने ही जीवोंकी निवास भूमि-

सप्तसागररूपेण सदा पर्य्यावृतास्ति हि ।
निवासभूमिर्जीवानां मयैव सुरसत्तमाः ! ॥ ८९ ॥
उपासकगणान् सप्त-मातृकारूपमाश्रिता ।
अहन्नूपासनामार्गे विधायाग्रेसरान् हि तान् ॥ ९० ॥
उपासनानदीष्णातान् स्वसमीपं नयामि च ।
भूमिर्दार्शनिकीः सप्त निर्माय ताभिरेव च ॥ ९१ ॥
आरोप्य ज्ञानसोपानं साधकांस्तत्त्ववेदिनः ।
न यस्मात् पुनरावृत्तिस्तत्कैवल्यपदं नये ॥ ९२ ॥
सङ्क्षेपतोऽधुना देवाः ! वर्णिता मद्विभूतयः ।
त्रिविधाः सप्तधा चैव मया युष्माकमन्तिके ॥ ९३ ॥
सर्व्वस्थानेष्वहं नूनं राज्ययोः स्थूलसूक्ष्मयोः ।
सप्तभेदैस्त्रिभेदैश्च प्रकटत्वं गतास्म्यहो ॥ ९४ ॥
भेदत्रयानुसाराच्च सप्तभेदानुसारतः ।
देशे काले च सर्वत्र द्रष्टुमीष्टे हि यश्च माम् ॥ ९५ ॥

को आवृत कर रक्खा है ॥ ८९ ॥ सप्तमातृकारूपको आश्रय करके मैं ही उपासकगणको उपासनामार्गमें अग्रसर करके उपासनामें प्रवीण उन उन उपासकोंको अपने निकटस्थ करदेती हूँ। और सप्तदार्शनिक भूमिको बनाकर उन्हींसे मैं तत्त्वज्ञानी साधकोंको ज्ञान-सोपानमें आरूढ़ कराकर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती, उस कैवल्य-पदमें पहुँचा देती हूँ ॥ ९०–९२ ॥ हे देवतागण ! आपके समीप मैंने संक्षेपसे अपनी त्रिविध और सप्तविध विभूतियोंका अभी वर्णन किया है ॥ ९३ ॥ अहो ! मैं ही स्थूल और सूक्ष्म राज्यके सब स्थानों-में त्रिभेद और सप्तभेदसे प्रकट हूँ ॥ ९४ ॥ जो मुझको सब देश और सब कालमें त्रिभेद और सप्तभेदकेअनुसार देखनेमें समर्थ होता है, वही ज्ञानी भक्त निःसन्देह शीघ्र मुझको प्राप्तकर लेता है और मुझको

ज्ञानी भक्तः स एवाशु माम्प्राप्नोति न संशयः।
प्राप्यैव मां निमज्जेच्च परमानन्दसागरे ॥ ९६ ॥
मत्सर्व्वव्यापकाखण्ड-सत्ता नैवानुभूयते।
यावत्कालमहो देवाः! तावत्कालं ममैव हि ॥ ९७ ॥
शक्तिप्रकाशवैशिष्ट्याद्विशिष्टानाञ्च दर्शनम्।
विभूतीनां विधायाथ यूयं स्मरत मामलम् ॥ ९८ ॥
उद्भिज्जेषु ममाऽश्वत्थो रोगघ्नः स्वेदजेषु च।
अण्डजे गरुड़ो देवाः! गौर्विभूतिर्जरायुजे ॥ ९९ ॥
गुरुरस्मि ज्ञानवत्सु नरेषु च नराधिपः।
वर्णेषु ब्राह्मणो वर्ण आश्रमेष्वन्तिमाश्रमः ॥ १०० ॥
असुरेषु बलिर्देवाः! देवेषु च पुरन्दरः।
पावकोऽस्मि वसुष्वष्ट-संख्यकेषु न संशयः ॥ १०१ ॥
विष्णुश्च द्वादशादित्य-मध्येऽस्मि सुरसत्तमाः!।
रुद्रेषु शंकरश्चास्मि ह्येकादशमितेषु च ॥ १०१ ॥

प्राप्त करकेही परमानन्दसागरमें निमज्जन करता है ॥ ९५ ॥ हे देवतागण! जब तक मेरी सर्व्वव्यापक अखण्ड सत्ताका अनुभव न हो तबतक मेरे विशेषशक्ति-विकाशकेअनुसार विशेष विशेष विभूतियोंके दर्शन करके आपलोग भलीभांति मेरा स्मरण किया करो ॥ ९७–९८ ॥ हे देवगण! उद्भिज्जोंमें अश्वत्थ, स्वेदजोंमें रोगघ्न, अण्डजमें गरुड़ और जरायुजमें गऊ मेरी विभूति है ॥ ९९ ॥ ज्ञानियोंमें मैं गुरु हूँ, मनुष्योंमें मैं राजा हूँ, वर्णोंमें मैं ब्राह्मण हूँ, आश्रमोंमें मैं सन्यास हूँ ॥ १०० ॥ हे देवगण! असुरोंमें मैं बलि हूँ, देवताओंमें मैं इन्द्र हूँ, अष्टवसुओंमें मैं निःसन्देह पावक हूँ ॥ १०१ ॥ द्वादशादित्योंमें हे देवतागण! मैं विष्णु हूँ, एकादश रुद्रोंमें मैं शङ्कर हूँ ॥ १०२ ॥ ऋषियोंमें मैं भृगु हूँ, पितरोंमें मैं अर्य्यमा हूँ। वेदोंमें मैं

पितृणामर्य्यमा चाहमृषीणां भृगुरस्म्यहम्।
सामवेदोऽस्मि वेदेषु तेष्वस्मि प्रणवो ह्यहम्॥ १०३॥
मन्त्रेषु मां हि गायत्रीं जानीत सुरसत्तमाः!।
वाटिकासु पञ्चवटी यज्ञेषु जपयज्ञकः॥ १०४॥
सूर्य्योऽस्मि ज्योतिषां मध्ये हर्म्येषु देवमन्दिरम्।
सर्गेषु चेतना चास्मि पर्वतेषु हिमालयः॥ १०५॥
अहं नदीषु गङ्गास्मि समुद्रोऽस्मि जलाशये।
पृथिव्यां तीर्थरूपाहं देवर्षिष्वस्मि नारदः॥ १०६॥
उपास्यस्थानवर्गेषु पीठरूपाहमस्मि च।
शासकेषु यमश्चास्मि विद्यास्वध्यात्मनामिका॥ १०७॥
शास्त्रेषु दर्शनं शास्त्रं वेदोऽस्मि वादशैलिषु।
वाक् कीर्त्तिः श्रीश्च नारीषु पौरुषं पुरुषेष्वपि॥ १०८॥
अध्यात्मलक्ष्यं लक्ष्येषु गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि तेजः पुण्यवतामहम्॥ १०९॥

सामवेद हूँ, सब वेदोंमें मैं प्रणव हूँ॥१०३॥ हे देवगण! मन्त्रोंमें मुझको गायत्री जानो, यज्ञोंमें मैं जपयज्ञ हूँ, वाटिकाओंमें मैं पञ्चवटी हूँ॥१०४॥ प्रसादोंमें मैं देवालय हूँ, ज्योतियोंमें मैं सूर्य्य हूँ। सृष्टिमें मैं चेतना हूँ, पर्वतोंमें मैं हिमालय हूँ॥ १०५॥ नदियोंमें मैं गंगा हूँ, जलाशयोंमें मैं सागर हूँ, देवर्षियोंमें मैं नारद हूँ, पृथिवीमें मैं तीर्थरूपा हूँ॥ १०६॥ उपास्यस्थानोंमें मैं पीठरूपा हूँ, शासकोंमें मैं यमराज हूँ, विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या हूँ॥ १०७॥ शास्त्रोंमें मैं दर्शनशास्त्र हूँ, विचार शैलियोंमें मैं वाद हूँ, नारियोंमें मैं कीर्ति, श्री और वाणी हूँ, पुरुषोंमें मैं पुरुषकार हूँ॥ १०८॥ लक्ष्योंमें अध्यात्म लक्ष्य हूँ, छन्दोंमें गायत्री मैं हूँ, मासोंमें मैं मार्गशीर्ष हूँ, पुण्यात्माओंमें मैं तेज हूँ॥ १०९॥ ऋतुओंमें मैं वसन्त ऋतु हूँ, मुनियोंमें मैं व्यास हूँ, व्यवस्थाओंमें

ऋतूनाञ्च वसन्तोऽस्मि व्यासोऽस्मि मुनिसंहतौ।
दण्डरूपा व्यवस्थासु गुह्येषु मौनधारणम् ॥ ११० ॥
धीरेषु ज्ञानरूपाऽस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
देशेषु भारतं वर्षमार्य्यजातिश्च जातिषु ॥ १११ ॥
शब्दः खे पवने स्पर्शो रूपं हुतवहेऽस्म्यहम्।
अप्स्वस्म्यहं रसो देवाः! पृथिव्यां गन्ध एव च ॥ ११२ ॥
यावद्देवगणाः सर्व्वे सात्त्विक्यो मे विभूतयः।
यावन्तस्तेऽसुराश्चैव तामस्यो मे विभूतयः ॥ ११३ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां वित्त देवाः! सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि बलं बलवतामहम् ॥ ११४ ॥
धर्म्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि विबुधर्षभाः!।
सतीत्वमार्य्यनारीषु कामरागविवर्ज्जितम् ॥ ११५ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रिता।
प्राणापानसमायुक्ता पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ ११६ ॥

मैं दण्डरूपा हूँ, गुह्योंमें मैं मौन हूँ ॥ ११० ॥ धीर व्यक्तियोंमें मैं ज्ञानरूपा हूँ, जयकी इच्छा करनेवालोंमें मैं नीति हूँ, देशमें भारतवर्ष और जातियोंमें आर्यजाति हूँ ॥ १११ ॥ हे देवतागण! मैं आकाशमें शब्द, वायुमें स्पर्श, अग्निमें रूप, जलमें रस और पृथिवीमें गन्धरूपा हूँ ॥ ११२ ॥ जितने देवतागण हैं, वे मेरी सात्त्विक विभूतियाँ और जितने असुरगण हैं, वे मेरी तामसिक विभूतियाँ हैं ॥ ११३ ॥ हे देवगण! आप लोग मुझको सब भूतोंका सनातन बीज समझें, मैं बुद्धिमानोंमें बुद्धि और बलवानोंमें बलरूपा हूँ ॥ ११४ ॥ हे देवगण! मैं जीवोंमें धर्मानुकूल काम हूँ और आर्यनारियोंमें काम तथा रागसे रहित पातिव्रत्यधर्मरूपा हूँ ॥ ११५ ॥ मैं वैश्वानर नामक अग्नि होकर प्राणियोंके देहको आश्रय करके प्राण और अपान वायुओंसे मिलकर चारप्रकारके

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्व्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ ११७ ॥
आयुधानामहं वज्रं कालः कलयतामहम्।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ११८ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां सुरर्षभाः!।
यत्र यत्र च मे शक्तेर्विकाशोऽस्ति विशेषतः ॥ ११९ ॥
आध्यात्मिकाधिदैवाधिभूतरूपैर्दिवौकसः!।
तत्तदेवावगच्छध्वं मच्छक्त्यंशविशेषजम् ॥ १२० ॥
अहमात्मा सुपर्वाणः! सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥ १२१ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुर्माता निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवप्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १२२ ॥

अन्नोंको पचाती हूँ ॥ ११६ ॥ मैं तेजोरूपसे पृथिवीमें प्रवेश करके जीवोंको धारण करती हूँ और रसस्वरूप चन्द्रमा होकर सब ओषधियोंको पुष्ट करती हूँ ॥ ११७ ॥ मैं शस्त्रोंमें वज्र और वशमें करनेवालोंमें काल हूँ, इस संसारमें कोई भी चर अथवा अचर ऐसा नहीं है, जो मुझसे खाली हो ॥ ११८ ॥ हे देवगण ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, जहाँ-जहाँ अध्यात्म अधिदैव या अधिभूतरूपसे मेरी शक्तिका विशेष विकाश है, हे देवगण ! उन सबको मेरी ही शक्तिके विशेष अंशसे उत्पन्न समझो ॥ ११९-१२० ॥ हे देवतागण ! मैं सब जीवोंके अन्तःकरणमें रहनेवाली आत्मारूप हूँ, मैं सब जीवोंकी आदि, मध्य और अन्तरूपा हूँ ॥ १२१ ॥ मैं ही गति, भर्त्ता, प्रभु, माता, निवास-स्थान, शरण, मित्र, उत्पत्ति तथा प्रलयका स्थान, मुक्तिस्थान और अविनाशी बीजरूपा हूँ ॥ १२२ ॥ हे देवतागण ! मैं ही पुरुषरूपा

नारीरूपाऽहमेवास्मि नृरूपा च दिवौकसः! ।
लिङ्गातीताऽहमेवास्मि द्वन्द्वातीताप्यहं ध्रुवम् ॥ १२३ ॥
अतीतास्मि च सर्वेभ्यो गुणेभ्यो नात्र संशयः ।
भावातीताहमेवास्मि ब्रह्मरूपं समाश्रिता ॥ १२४ ॥
यद्रूपं वः प्ररोचेत तस्मिन्नेव निरन्तरम् ।
उपास्येऽहं सुपर्वाणः! मोक्षायालं तदेव वः ॥ १२५ ॥
अहमेवास्मि भो देवाः! धर्म्मकल्पद्रुमस्य च ।
बीजं मूलं तथाऽऽधारो नात्र कश्चन संशयः ॥ १२६ ॥
स्कन्धस्तस्य द्रुमस्यास्ते धर्म्मो वै विश्वधारकः ।
मुख्यं शाखात्रयश्चास्य यज्ञो दानं तपस्तथा ॥ १२७ ॥
ब्रह्मार्थाऽभयदानानि देवाः! त्रैगुण्ययोगतः ।
दानस्य प्रतिशाखाः स्युर्नवधा नात्र संशयः ॥ १२८ ॥
तपोऽपि त्रिविधं ज्ञेयं कायवाणीमनोभवम् ।
त्रैगुण्ययोगेनास्यापि प्रतिशाखा नवासते ॥ १२९ ॥

हूँ, मैं ही स्त्रीरूपा हूँ, मैं ही लिङ्गसे अतीत, द्वन्द्वसे भी अतीत, सब गुणोंसे अतीत और भावसे भी अतीत, निश्चय ही ब्रह्मरूपा हूँ ॥ १२३–१२४ ॥ हे देवतागण! आप लोगोंकी जैसी इच्छा हो, उसी रूपमें निरन्तर आप मेरी उपासना करो, उसीसे आपकी मुक्ति हो जायगी ॥ १२५ ॥ हे अमरगण! मैं ही धर्मकल्पद्रुमका बीज भी हूँ, मूल भी हूँ और आधार भी हूँ, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १२६ ॥ उस वृक्षका स्कन्ध विश्वधारक धर्म ही है। उसकी प्रधान तीन शाखायें हैं, यथा—यज्ञ, तप और दान ॥ १२७ ॥ अर्थदान ब्रह्मदान और अभयदानके त्रिगुणात्मक होनेसे दानकी नौ प्रतिशाखायें हैं, हे देवगण! इसमें सन्देह नहीं है ॥ १२८ ॥ शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तपके त्रिगुणात्मक

प्रतिशाखा अनेकाः स्युर्यज्ञशाखासमुद्भवाः।
काम्याध्यात्माधिदैवाधिभूतनैमित्तनित्यकाः ॥ १३० ॥
कर्म्मयज्ञप्रशाखाया भेदास्त्रैगुण्ययोगतः।
त एवाष्टादशाख्या हि प्रतिशाखा मनोहराः ॥ १३१ ॥
पितृदेवर्षिवृन्दानामवतारगणस्य च।
पञ्चानां सगुणब्रह्म-रूपाणां निर्गुणस्य च ॥ १३२ ॥
ब्रह्मणश्चासुरौघाणामुपास्तेः पञ्च भक्तितः।
मन्त्रो हठो लयो राज एते योगेन च ध्रुवम् ॥ १३३ ॥
अस्या भेदाश्च चत्वारो भेदा एवं नवासते।
एते भेदा नवैवाहो देवाः! त्रैगुण्ययोगतः ॥ १३४ ॥
उपास्तेः प्रतिशाखाः स्युः सङ्ख्यया सप्तविंशति।
श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च ॥ १३५ ॥
त्रयोऽमी ज्ञानयज्ञस्य भेदास्त्रैगुण्ययोगतः।
नवधा सम्विभक्ता हि प्रतिशाखा नवासते ॥ १३६ ॥

होनेसे तपोधर्मकी नौ प्रतिशाखायें हैं ॥ १२९ ॥ यज्ञशाखासे उत्पन्न प्रतिशाखायें अनेक हैं। नित्य नैमित्तिक काम्य और अध्यात्म अधिदैव अधिभूत, ये कर्मयज्ञरूपी प्रशाखाओंके भेद हैं, इनके त्रिगुणात्मक होनेसे कर्मयज्ञकी मनोहर अठारह प्रतिशाखायें हैं ॥ १३०-१३१ ॥ उपासना यज्ञकी आसुरी उपासना, ऋषि देवता और पितरोंकी उपासना, अवतारोंकी उपासना, पंच सगुणब्रह्मरूपोंकी उपासना और निर्गुणब्रह्मोपासना, ये पाँच भक्तिसम्बन्धी भेद हैं और योगकेअनुसार उपासनाके मन्त्र हठ लय राज ये चार भेद हैं, इसप्रकारसे इन्हीं नौ भेदोंके त्रिगुणात्मक होनेसे हे देवगण! उपासनाकी सत्ताईस प्रतिशाखायें हैं। ज्ञानयज्ञके श्रवण मनन निदिध्यासन ये तीन भेद त्रिगुणसम्बन्धसे नवधा विभक्त होकर

द्विसप्तत्या प्रशाखाभिः शाखाभिश्चैवमेव भोः ।
निजानां ज्ञानिभक्तानां धर्मकल्पद्रुमात्मना ॥ १३७ ॥

विराजे स्वान्तदेशेऽहं निर्ज्जराः ! नात्र संशयः ।
धर्म्मकल्पद्रुमस्यास्य पत्रपुष्पात्मकान्यहो ॥ १३८ ॥

उपाङ्गानि न सङ्ख्यातुमर्ह्याणि कैरपि क्वचित् ।
विचित्राणि मनोज्ञानि सन्ति तानि ध्रुवं सुराः ! ॥ १३९ ॥

पक्षिणौ द्वौ सदा तत्र जगतां मोहकारिणौ ।
मनोज्ञे वृक्षराजे स्तो वसन्तौ शाश्वतीः समाः ॥ १४० ॥

स्वादतेऽभ्युदयस्यैको ह्यपक्वे द्वे फले तयोः ।
अपरश्चतुरः पक्षी सुपक्वं त्वमृतं फलम् ॥ १४१ ॥

सुस्वाद्वास्वाद्य गीर्वाणाः ! नूनं निश्रेयसं पदम् ।
ब्रह्मानन्दसमुल्लास-सार्थकत्वं प्रकाशयेत् ॥ १४२ ॥

नौ प्रतिशाखायें होती हैं ॥ १३२—१३६ ॥ हे देवतागण ! इस प्रकारसे मैं ही बहत्तर शाखा और प्रतिशाखाओंमें धर्म्मकल्पद्रुमरूपसे अपने ज्ञानी भक्तके हृद्देशमें निःसन्देह विराजमान हूँ । उस धर्मकल्पद्रुमके पत्र पुष्परूपी उपाङ्गोंकी तो संख्या ही किसीसे कभी नहीं हो सकती, वे अतिमनोहर और विचित्र हैं ॥ १३७—१३९ ॥ उस रम्य वृक्षराजपर जगन्मुग्धकारी दो पक्षी सदा अनन्तकालसे निवास करते हैं ॥ १४० ॥ उनमेंसे एक पक्षी अभ्युदयके दो कच्चे फलोंका स्वाद ग्रहण करता है और दूसरा चतुर पक्षी निःश्रेयसपदरूपी सुपक्व और सुस्वादु अमृत फलका आस्वादन करके हे देवतागण ! ब्रह्मानन्द-समुल्लासकी चरितार्थताको निश्चय ही प्रकाशित करता है ॥ १४१—१४२ ॥ हे देवतागण ! मैंने आपलोगोंको जो यह अद्भुत शक्तिगीता सुनायी

श्राविता या मया देवाः! शक्तिगीतेयमद्भुता।
श्रुतीनां वो रहस्यैः सा परिपूर्णाऽस्ति सर्वथा ॥ १४३ ॥

सर्वोपनिषदां सारः प्रकाशो ज्ञानवर्च्चसाम्।
ज्ञानानन्दसमुद्भूतं नवनीतं मनोहरम् ॥ १४४ ॥

सर्वेषु सम्प्रदायेषु सर्व्वोपासकशक्तिदा।
शान्तिप्रदाऽऽर्त्तभक्तेभ्यो जिज्ञासुज्ञानवर्द्धिनी ॥ १४५ ॥

अर्थार्थिभक्तवृन्दानां सदा सन्मार्गदर्शिनी।
ज्ञानिभक्तसमूहेभ्यः परमानन्ददायिनी ॥ १४६ ॥

नारीजातिसतीत्वस्य नितरामस्ति वर्द्धिका।
तपोमूलकधर्म्मस्य तासाञ्च परिवर्धिका ॥ १४७ ॥

एषा पुरुषपुञ्जेभ्यो निखिलेभ्यो दिवौकसः!।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्वर्गफलप्रदा ॥ १४८ ॥

चातुर्वर्ण्यार्थमेषाऽस्ति सममभ्युदयप्रदा।
संयमोऽसौ गृहस्थानां नियमो ब्रह्मचारिणाम् ॥ १४९ ॥

है वह सर्वथा वेदोंके रहस्योंसे पूर्ण है ॥ १४३ ॥ सब उपनिषदोंका सार, ज्ञानज्योतिकी प्रकाशरूपा और ज्ञान और आनन्दसे उत्पन्न सुन्दर मक्खनरूपा है ॥ १४४ ॥ यह सब सम्प्रदायोंमें सब उपासकोंकेलिये शक्तिप्रदानकारिणी हैं, आर्त्तभक्तोंकेलिये शान्तिप्रदा है, जिज्ञासु-भक्तोंके लिये ज्ञानवर्द्धिनी है ॥ १४५ ॥ अर्थार्थी भक्तोंकेलिये सदा सन्मार्गप्रदर्शिनी है और ज्ञानीभक्तोंकेलिये परमानन्ददायिनी हैं ॥ १४६ ॥ नारीजातिकेलिये उनके सतीत्वकी अत्यन्तवर्द्धिका और उनके तपो-मूलक धर्म्मको बढ़ानेवाली है ॥ १४७ ॥ हे देवगण! समस्त पुरुषोंके-लिये धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष रूपी चतुवर्ग फलप्रदा है ॥ १४८ ॥ यह चातुर्वर्ण्यकेलिये समानरूपसे अभ्युदयप्रदा है, हे देवगण! ब्रह्मचारियोंकेलिये यह नियमरूपिणी है, गृहस्थोंकेलिये संयम-

वानप्रस्थाश्रमस्थानां तपोरूपाऽस्त्यसौ सुराः ! ।
त्यागशक्तिप्रदा चास्ते सन्न्यासिभ्यो न संशयः ॥ १५० ॥
निश्चितं वित्त भो देवाः ! सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम् ।
चातुर्वर्ण्यस्थिता मर्त्त्या चतुराश्रमिणस्तथा ॥ १५१ ॥
अस्या हि शक्तिगीतायाः स्वाध्यायं विधिपूर्वकम् ।
कुर्य्युश्चेदुन्नतिस्तेषां स्वधर्म्माणां ध्रुवं भवेत् ॥ १५२ ॥
चतुर्वर्गोऽपि तेषां स्यात्सुलभो नात्र संशयः ।
देवाः ! अतोऽस्ति कर्त्तव्यमुचितं वः सुनिश्चितम् ॥ १५३ ॥
वर्णाश्रमाणां धर्म्माणां मर्य्यादा मुक्तिदायिनी ।
विद्यते यत्र तत्रैव मर्त्त्यलोके पुनः पुनः ॥ १५४ ॥
अस्या हि शक्तिगीतायाः प्रचारः क्रियतामलम् ।
गुरुभक्तिविहीनेभ्योऽसदाचारिभ्य एव तु ॥ १५५ ॥
नास्तिकेभ्यः सुपर्वाणः ! भ्रष्टेभ्यो वेदमार्गतः ।
ऋषियुष्मत्पितृव्राते विश्वासं ये न कुर्वते ॥ १५६ ॥

रूपिणी है, वानप्रस्थोंकेलिये तपोरूपिणी है और सन्न्यासियोंकेलिये निस्सन्देह त्यागशक्तिप्रदानकारिणी है ॥ १४९–१५० ॥ हे देवतागण ! मैं यह सत्य कहती हूँ, निश्चय जानो कि, चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके मनुष्य यदि विधिपूर्व्वक इस शक्तिगीताका स्वाध्याय करेंगे, तो उनकी स्वधर्म्मोन्नति अवश्य ही होगी ॥ १५१–१५२ ॥ और चतुर्वर्ग भी उनकेलिये सुलभ हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। इसकारण हे देवगण ! आपलोगोंका यह निश्चित उचित कर्त्तव्य है कि, मृत्युलोकमें जहाँ मुक्तिविधायिनी वर्णाश्रमधर्मोंकी मर्य्यादा है वहीं वारंवार इस शक्तिगीताका भलीभाँति प्रचार करें। परन्तु हे देवगण ! इसके प्रचारमें यह लक्ष्य सदा रखना चाहिये कि, यह शक्तिगीता कदापि गुरुभक्तिसे रहित, सदाचारी, नास्तिक, वेदमार्गसे

तेभ्यो नैषा प्रदातव्या शक्तिगीता कदाचन।
एतल्लक्ष्यं सदा रक्ष्यमस्या देवाः! प्रचारणे॥ १५७॥
अस्या हि शक्तिगीतायाः शक्तिरास्ते महाद्भुता।
एतन्मंत्रावलीपाठात् तत्साहाय्याच्च निर्जराः!॥ १५८॥
शक्तियागविधानेन दुःखी दुःखाद्विमुच्यते।
धनार्थं लोलचित्तेभ्यो महालक्ष्मीः प्रसीदति॥ १५९॥
सुपुत्रं प्रलभेयातां पुत्रहीनौ हि दम्पती।
राजद्वारे तथा देवाः! साफल्यं जायते नृणाम्॥ १६०॥
सर्व्वेषां सुलभा पूर्त्तिरनया वासनावलेः।
अस्यास्तु शक्तिगीताया जपहोमौ सुरोत्तमाः!॥ १६१॥
आधिव्याध्यपनोदार्थममोघे स्तो महौषधी।
श्रवणं मननं कार्य्यमस्या अध्ययनन्तथा॥ १६२॥

भ्रष्ट, ऋषियोंमें तुमलोगोंमें और पितरोंमें विश्वासहीन व्यक्तियोंको नहीं देनी चाहिये॥ १५३–१५७॥ इस शक्तिगीताकी परम अद्भुत शक्ति है। हे देवतागण! इस गीताकी मन्त्रावलीके पाठद्वारा और उसकी सहायतासे शक्तियागके अनुष्ठानद्वारा दुःखीके सब दुःख दूर हो जाते हैं, धनकेलिये चञ्चलचित्त व्यक्तियोंपर महालक्ष्मीकी प्रसन्नता हो जाती है॥ १५८–१५९॥ पुत्रहीन दम्पतीको सुपुत्रकी प्राप्ति होती है, हे देवगण! राजद्वारमें मनुष्योंको सफलताकी प्राप्ति होती है॥ १६०॥ इसकेद्वारा सब व्यक्तियोंकी वासनाओंकी पूर्त्ति सुलभ हो जाती है। हे देवतागण! आधि व्याधि दूर करनेकेलिये तो इस शक्तिगीताका जप और यज्ञ अमोघ महौषधि है। सदा इसका पाठ, श्रवण और मनन करना चाहिये और योग्य पात्रोंमें इसका प्रचार करना चाहिये, जिससे

प्रचारो योग्यपात्रेषु कर्त्तव्यश्च निरन्तरम् ।
सम्वृद्धिर्येन मर्त्यानां भवताञ्च भवेत्सुराः ! ॥ १६३ ॥
एतत्प्रचारपाठाभ्यां कल्याणं परमाप्नुत ।
एषा वोऽभिहिता देवाः ! विश्वकल्याणसम्पदे ॥ १६४ ॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवी-
देवसम्वादे विराड्रूपदर्शनविभूतियोग-
वर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ।

—*—

समाप्तेयं शक्तिगीता ।

मनुष्योंका संवर्द्धन और हे देवतागण ! आप लोगोंका भी संवर्द्धन हो ॥ १६१-१६३ ॥ हे देवतागण ! इसके पाठ और प्रचारकेद्वारा परम कल्याणको प्राप्त करो । जगन्मङ्गलकेलिये यह शक्तिगीता मैंने आपलोगोंसे कही है ॥ १६४ ॥

इति श्रीशक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रका
महादेवीदेवसम्वादात्मक विराट्रूपदर्शन और विभूतियोग-
वर्णननामक सप्तम अध्याय समाप्त ।

—*—

यह शक्तिगीता पूर्ण हुई ।

विशेष विज्ञापन

श्रीसूर्य्यगीता।

श्रीशक्तिगीता।

श्रीविष्णुगीता।

श्रीधीशगीता।

श्रीशम्भुगीता।

ये पाँचों गीतायें जो पहले अप्रकाशित थीं, श्रीभारतधर्म महामंडल, जगतगंज, वाराणसीके शास्त्रप्रकाश विभागद्वारा विशुद्ध हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुई हैं। यद्यपि इन पाँच गीताओं-में से प्रत्येक गीता अपने अपने उपासक सम्प्रदायों (सौर्य्य शाक्त वैष्णव गाणपत्य और शैव सम्प्रदायों) केलिये परम आवश्यकीय हैं परन्तु उपनिषदोंका सार होनेकेकारण और प्रत्येकमें वेदके गम्भीर रहस्य अलग अलग होनेकेकारण प्रत्येक सम्प्रदायके उपासकोंको इन पाँचों गीताओंको तथा श्रीगुरुगीताको अवश्य पढ़ना उचित है। श्रीगुरुगीता भी भाषानुवाद सहित छप चुकी है। और सबप्रकारके साधुसम्प्रदायोंको उक्त गुरुगीता और सन्न्यासगीता अवश्य ही पढ़नी चाहिये। सन्न्यासगीता भी भाषा-नुवादसहित छप चुकी है।

व्यवस्थापक

शास्त्र प्रकाश विभाग

श्री भारतधर्म महामण्डल,

जगत गंज, वाराणसी कैण्ट।

धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठ

श्री भारतधर्ममहामण्डल, जगतगंज, वाराणसी आर्य संस्कृतिकी रक्षा करनेवाली प्राचीनतम संस्था है। विद्याप्रचारके उद्देश्यसे एवम् आध्यात्मिक ज्ञानकी अभिवृद्धिकेलिये श्री वाराणसी विद्यापरिषद्का संचालन प्रारम्भमें किया गया। परलोकगत लार्ड मिण्टोके सत्परामर्शके अनन्तर अखिलभारतवर्षीय ब्राह्मण सम्मेलनके प्रस्तावकेअनुसार अखिल-भारतीय धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठ (आल इण्डिया रिलीजस एण्ड स्पिरिचुअल यूनिवर्सिटी) की स्थापना हुई।

वर्तमान समयमें भारतके समस्त प्रान्तोंमें जो विश्वविद्यालय चल रहे हैं—उनमें ईश्वर ज्ञान विहीन धार्मिक निष्ठासे रहित संस्कार हीन शिक्षा ही दी जाती है। श्री भारतधर्म महामंडलके संस्थापक भगवत्पूज्य-पाद् ११०८ महर्षि श्री स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजवर्यने इस शिक्षा-संस्थानकेद्वारा भारतवर्षमें पुनः धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षाका सूत्र-पात किया।

आज हिमालयसे लेकर कन्याकुमारी तक और पंजाबसे आसाम पर्यन्तके समग्र भूभागमें इस विद्यापीठके शताधिक केन्द्र कार्यरत हैं और संस्कृत विद्याके साथ ही साथ हिन्दी राष्ट्रभाषाका प्रचार कर रहे हैं।

इसके माध्यमसे आचार्य, शास्त्री, मध्यमा और प्रथमा तककी परीक्षायें आयुर्वेद, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, साहित्यआदि सभी विषयोंमें ली जाती हैं। उपाधि परीक्षाओंकी व्यवस्था भी है। डी० ओ० सी०, बी० डी० सी० एवम् साहित्य वाचस्पति परीक्षायें निबन्ध-द्वारा भी ली जाती हैं।

शक्तिगीताके पाठकोंसे निवेदन है कि, वे इस संस्थाके नियम मँगायें और अपने संस्थानोंमें इसके केन्द्र स्थापित कर इसके सदुद्देश्यका प्रचार करें। नियमावलीकेलिये इस पतेपर लिखें :—

परीक्षामंत्री

अखिल भारतीय धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठ

जगतगंज, वाराणसी

आर्यमहिलाके नियम।

१—श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की मुखपत्रिकाके रूपमें आर्यमहिला प्रकाशित होती है।

२—महापरिषद्की सबप्रकारकी सभ्या महोदयाओं और सभ्य महोदयोंको यह पत्रिका विना मूल्य दी जाती है। अन्य ग्राहकोंको ५) वार्षिक अग्रिम देनेपर प्राप्त होती है। प्रतिसंख्याका मूल्य ५० पैसा है। पुस्तकालयों तथा वाचनालयों को ३) वार्षिकमें ही दी जाती है।

३—किसी लेखको घटाने, बढ़ाने या प्रकाशित करने या न करनेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादिकाको है। योग्य लेखकों तथा लेखिकाओंको नियत पारितोषिक दिया जाता है और विशेष योग्य लेखकों तथा लेखिकाओंको अन्यान्य प्रकारसे भी सम्मानित किया जाता है।

४—हिन्दी लिखनेमें असमर्थ मौलिक लेखक-लेखिकाओंके लेखोंका अनुवाद कार्यालयसे करा कर छापा जाता है।

५—समालोचनार्थ पुस्तकें, लेख, परिवर्तनकी पत्र-पत्रिकायें, कार्यालय-सम्बन्धी पत्र, छपने योग्य विज्ञापन और रुपयाआदि सब निम्नलिखित पतेपर आना चाहिये।

व्यवस्थापक

'आर्यमहिला'

श्रीमहामण्डलभवन जगत्गंज, वाराणसी कैण्ट

उपदेशक महाविद्यालय

इस विभागकेद्वारा आचार्य और एम० ए० परीक्षोत्तीर्ण प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थियोंको शास्त्रीय व्युत्पत्तिसे सम्पन्न और विशुद्ध सांस्कृतिक चेतनासे सुसम्पन्न बनाया जाता है। भारतमें अपने ढङ्गकी यह एक ही संस्था है। इसकेद्वारा ज्ञानसम्पन्न अनेक उपदेशकोंने समग्र भारतमें प्रौढ रूपसे धर्मका प्रचार कार्य किया है।

भगवत्पूज्यपाद महर्षि ११०८ श्रीज्ञानानन्दजी महाराजवर्यके आशीर्वादोंसे अनुप्राणित यह संस्था आज भी धर्मसेवामें यथावत् संलग्न है।